

खंड

# 4

## भारतीय साहित्य में कहानी

---

इकाई 13

भारत में कथा-कहानी

5

इकाई 14

नवजागरण काल में भारतीय कहानी

18

इकाई 15

राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में भारतीय कहानी

39

इकाई 16

स्वाधीनता के बाद भारतीय कहानी का विकास

54

---

## पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

---

|                                                                                                                      |                                                                                                 |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------|
| प्रो. मैनेजर पाण्डेय<br>अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष<br>भारतीय भाषा केन्द्र जे.एन.यू., नई दिल्ली               | प्रो. गोपाल राय<br>अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष<br>हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना |
| प्रो. रामदेव शुक्ल<br>अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग<br>दी.द.उ.गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर      | श्री ज्ञानरंजन<br>प्रख्यात कथाकार एवं संपादक<br>जबलपुर, मध्य प्रदेश                             |
| प्रो. लक्ष्मण सिंह बिष्ट बटरोही<br>अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष<br>हिन्दी विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल | डॉ. विजय बहादुर सिंह<br>प्रख्यात आलोचक<br>भोपाल, मध्य प्रदेश                                    |
| प्रो. जवरीमल्ल पारख<br>प्रोफेसर, हिन्दी, मानविकी विद्यापीठ<br>इग्नू, नई दिल्ली                                       | डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय<br>मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली             |

---

## पाठ्यक्रम संयोजक

---

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय  
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

---

## खंड संयोजन, संशोधन एवं संपादन

---

डॉ. जितेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, हिन्दी संकाय  
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली

---

## पाठ्यक्रम निर्माण समिति

---

| पाठ लेखक                                                                             | इकाई संख्या | पाठ लेखक                                                                                                                                     | इकाई संख्या |
|--------------------------------------------------------------------------------------|-------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------|
| प्रो. गोपाल राय<br>अवकाश प्राप्त अध्यक्ष, हिन्दी विभाग<br>पटना विश्वविद्यालय, पटना   | 13          | डॉ. अर्चना वर्मा<br>अवकाश प्राप्त, एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी)<br>मिरांडा हाउस दिल्ली                                                          | 16          |
| डॉ. अर्चना वर्मा<br>अवकाश प्राप्त, एसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी)<br>मिरांडा हाउस, दिल्ली | 14          | <b>विशेष सहयोग :</b> सुश्री नमिता सत्येन<br><b>सहयोग :</b> श्री अरुण कुमार पाण्डेय, सुश्री निवेदिता,<br>श्री शंभुनाथ मिश्र, सुश्री लकी चौधरी |             |
| डॉ. आनन्द प्रकाश,<br>अवकाश प्राप्त रीडर (अंग्रेजी)<br>हंसराज कालेज, दिल्ली           | 15          | <b>सचिवालयिक सहयोग :</b> सुश्री हेमलता                                                                                                       |             |

---

## सामग्री निर्माण

---

श्री सी. एन. पाण्डेय  
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)

अप्रैल, 2015

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2015

ISBN : 978-81-266-6861-8

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना मिनियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के विषय में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सुनैना कुमार, निदेशक, मानविकी विद्यापीठ द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

Paper Used : “Agro based Environment Friendly”

लेजर टाइप सेटिंग : एच. डी. कम्प्यूटर क्रॉफ्ट, डब्लु जैड 36ए, लाजवंती गार्डन, नई दिल्ली 110046

मुद्रक : राज प्रिंटर, ए-9, सैक्टर बी-2, ट्रॉनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद (उ. प्र.)

---

## खण्ड-4 परिचय

---

यह कहानी संबंधी मॉड्यूलर के पहले पाठ्यक्रम 'कहानी : स्वरूप और विकास' का चौथा खण्ड है। इस खंड का शीर्षक है— भारतीय साहित्य में कहानी । इस खण्ड में कुल चार इकाइयाँ हैं जो इस प्रकार हैं —

इकाई — 13 भारत में कथा—कहानी

इकाई — 14 नवजागरण—काल में भारतीय कहानी

इकाई — 15 राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में भारतीय कहानी

इकाई — 16 स्वतंत्रता के बाद भारतीय कहानी का विकास

भारत में कथा कहानी की एक लम्बी परंपरा है। इस परंपरा में वृहदकथा, जातक कथाएँ, हितोपदेश और पंचतंत्र आदि आते हैं। इस खण्ड की पहली इकाई में आप इसी परंपरा का विस्तृत अध्ययन करेंगे। भारत में नवजागरण का विशेष महत्व है। नवजागरण के कारण ही यह संभव हुआ कि सदियों से वंचित तबकों में मुक्ति का स्वप्न पैदा हुआ। इस खण्ड की दूसरी इकाई में नवजागरण कालीन भारतीय कहानी पर सामग्री दी गई है। यह सामग्री कहानी विधा और नवजागरण —दोनों को समझने में मददगार होगी।

स्वाधीनता आंदोलन के दौरान भारत में कहानी विधा का व्यापक विकास हुआ। इस दौर की कहानियों में उपनिवेशवाद से मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक सांस्कृतिक मुक्ति का स्वप्न भी निहित है। इस खण्ड की तीसरी इकाई में राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में लिखी गई भारतीय भाषाओं की कहानियों का परिचय है। इसी प्रकार चौथी इकाई में स्वतंत्रता के बाद की भारतीय भाषाओं की कहानियों का रेखांकन है।

हमें विश्वास है, इस खण्ड के अध्ययन के पश्चात आप भारतीय भाषाओं में हुए कहानी विधा के विकास को समझ सकेंगे/सकेंगी।

शुभकामनाओं सहित।



---

## इकाई 13 भारत में कथा-कहानी

---

### इकाई की रूपरेखा

- 13.0 उद्देश्य
- 13.1 प्रस्तावना
- 13.2 संस्कृत में 'कथा' परम्परा का आरम्भ और विकास
- 13.3 जातक कथाएँ
- 13.4 बृहदकथा
- 13.5 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'
- 13.6 सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता'
- 13.7 बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित'
- 13.8 दंडी कृत 'दशकुमारचरित'
- 13.9 संस्कृत कथा—परम्परा का अवसान
- 13.10 सारांश
- अभ्यास

---

### 13.0 उद्देश्य

---

यह एम. ए. हिन्दी के द्वितीय वर्ष के कहानी से सम्बन्धित मॉड्यूल के पाठ्यक्रम 'कहानी : स्वरूप और विकास' से सम्बन्धित खंड-4 की 13वीं इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत में कथा—परम्परा के आरम्भ और विकास की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'जातक कथाओं' से परिचय स्थापित कर सकेंगे/सकेंगी।
- 'बृहद् कथा' के बारे में जान सकेंगे/सकेंगी।
- 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' आदि के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे/सकेंगी।

---

### 13.1 प्रस्तावना

---

इस इकाई में भारत में 'कथा' के विकास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। भारत में 'कथा' का आरम्भ वेदों से ही हो जाता है। उसके बाद उपनिषदों, पुराणों, महाभारत, जातक कथाओं, गुणादय कृत 'बड्डकहा'(सं. अनुवाद 'बृहदकथा'), 'पंचतन्त्र' आदि के रूप में उसका विकास देखा जा सकता है। 'बड्डकहा'('बृहदकथा') में पहली बार लौकिक कथाओं का विशाल पैमाने पर संग्रह हुआ। इसके मूल रचयिता तो भगवान शिव माने जाते हैं, पर उसे लिखित रूप देने और प्रचारित करने वाले गुणादय माने जाते हैं। गुणादय ने उसे पैशाची प्राकृत में लिखा था, जिसमें सात लाख श्लोक थे। दुर्भाग्यवश उसके छह लाख श्लोक तो नष्ट हो गये, पर जो एक लाख श्लोक बच गये उनका संस्कृत

में अनुवाद हुआ। संस्कृत में हुए प्रारम्भिक अनुवाद भी आज उपलब्ध नहीं हैं। दसवीं शताब्दी में सोमदेव ने इन कथाओं का संग्रह 'कथासरित्सागर' के नाम से प्रस्तुत किया, जो संस्कृत में तो उपलब्ध है ही, उसके साथ साथ हिन्दी में भी उसके सम्पूर्ण और संक्षिप्त रूपान्तर प्राप्त होते हैं।

### 13.2 संस्कृत में 'कथा' परम्परा का आरम्भ और विकास

संस्कृत में कथा-परम्परा का आरम्भ वेदों से ही हो जाता है। उपनिषद् और पुराण उसकी अगली कड़ी हैं। महाकाव्य के रूप में वाल्मीकि कृत 'रामायण' में राम-कथा प्रस्तुत की गयी है।

इसे राम के पुत्रों लव-कुश ने अयोध्या की राजसभा में सुनाया था। 'महाभारत' पहली कथा या आख्यान है, जिसके 'लिखित' होने का प्रमाण मिलता है। 'महाभारत' का रचना-काल ई.पू. सन् 800-900 माना जाता है। यों तो इसकी मुख्य कथा शान्तनु-वंशज पांडवों और कौरवों के सम्बन्धों और युद्ध की है, पर मुख्य कथा के साथ इतने उपाख्यान जुड़े हुए हैं कि इसे उपाख्यानों का महाकोश भी कहा जा सकता है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है। इसे भारतीय इतिहास का जाज्वल्यमान दीपक कहा गया है।

लोमहर्षण-पुत्र उग्रश्रवा ने, जो पुराणों के विद्वान और कथावाचक थे, नैमिषारण्य में कुलपति महर्षि शौनक के बारह वर्षों तक जारी यज्ञ-सत्र में उपस्थित ब्रह्मर्षियों को यह कथा सुनायी थी। उन्होंने स्वयं कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा निर्मित महाभारत की कथा महर्षि वैशम्पायन से सुनी थी, जिसे उन्होंने जनमेजय के सर्प यज्ञ में सुनायी थी। उग्रश्रवा जी के अनुसार महाभारत की रचना करके व्यास जी यह विचार करने लगे कि अब शिष्यों को इस ग्रन्थ का अध्ययन कैसे कराऊँ। जन में इसका प्रचार कैसे हो? व्यास जी का यह विचार जानकर ब्रह्मा जी उनके आश्रम पधारे। व्यास जी ने ब्रह्मा जी से अपने महाकाव्य की रचना की बात बतायी। उन्होंने महाभारत के कथ्य का वर्णन किया। उनके अनुसार इस ग्रन्थ में इतिहास और पुराणों का मन्थन करके उनका प्रशस्त रूप प्रकट किया गया है। भूत, वर्तमान और भविष्य काल की इन तीनों संज्ञाओं का भी वर्णन हुआ है— इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं चयत्। ब्रह्मा जी ने ही व्यास जी को अपना काव्य लिखवाने के लिए गणेश जी को स्मरण करने को कहा। व्यास जी के स्मरण करते ही गणेश जी वहाँ पहुँच गये। व्यास जी ने उनसे अपने ग्रन्थ का—जिसकी रचना उन्होंने मन ही मन कर ली थी—लेखक बन जाने का आग्रह किया। गणेश जी ने उनका अनुरोध तो स्वीकार कर लिया, पर एक शर्त भी लगा दी। वह शर्त यह थी कि उन्हें अपना ग्रन्थ बिना कहीं रुके लिखना होगा ! यदि वे कहीं रुक गये तो वे लिखना छोड़ कर चल देंगे। व्यास जी ने भी एक शर्त रख दी कि आपको श्लोकों का अर्थ समझ कर ही लिखना होगा ! इसी शर्त पर महाभारत लिखा गया।

उग्रश्रवा जी के अनुसार इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है। यह भारत इतिहास का जाज्वल्यमान दीपक है। यह मोह का अन्धकार मिटा कर लोगों के अन्तःकरण रूप सम्पूर्ण अन्तरंग गृह को भलीभाँति ज्ञानालोक से प्रकाशित कर देता है।

### 13.3 जातक कथाएँ

‘कथा’ को ‘उपदेश’ या ‘शिक्षा’ से जोड़ने का इतिहास भी कदाचित् कथा की तरह ही पुराना है। सम्भव है कि आदि मानव भी शिकार की कथाएँ सुनाकर अपने बच्चों को सम्भावित खतरों से बचने का उपदेश देता रहा हो। ज्ञात भारतीय परम्परा में सर्वप्रथम वेदों में कथा का उपयोग ज्ञान या चिन्तन को सुग्राह्य बनाने के लिए किया गया है। उपनिषदों में इस परम्परा का विकास देखा जा सकता है। पर उपदेश या शिक्षा के लिए बड़े पैमाने पर कथा के उपयोग का सबसे पुराना उदाहरण जातक कथाएँ हैं। जातक कथाओं में कथा सुनाने वाले स्वयं भगवान बुद्ध हैं और श्रोता भिक्षु-गण। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को अपने पूर्वजन्म की कथाएँ सुनायी थीं, जिनका संकलन बाद में किसी समय हुआ। भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण ई. पू. 544 या 543 में माना जाता है। अतः अनुमान किया जाता है कि इन कथाओं का संकलन ई. पू. छठी शताब्दी में कभी हुआ होगा। इन कथाओं का हिन्दी रूपान्तर भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किया है, जो छह जिल्दों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हैं। इसमें कुल 547 कथाएँ संकलित हैं। सारी कथाएँ अलग अलग हैं। इसमें कथा के भीतर कथा या कथाओं की योजना नहीं की गयी है। इसकी अधिकतर कथाओं में जीवन में धैर्य से काम लेने, असफल होने पर भी प्रयत्न न छोड़ने, वेश्याओं और धूर्तों से सावधान रहने, प्रिय से वियोग हो जाने पर भी आशा का त्याग न करने, अधिक सन्तान पैदा न करने, मन को पवित्र रखने, शुभ संकल्प के साथ उद्यम करने, साहसी बनने, राजपुरुषों से मित्रता करने में सावधानी बरतने, स्त्रियों का सहेली के पति से न मिलने, बल के अपर्याप्त होने पर युक्ति से काम लेने, भाग्य के अनुकूल होने पर पौरुष आजमाने, अपने पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों पर विश्वास करने, पराक्रमी व्यक्ति के सदा विजयी होने आदि के उपदेश दिये गये हैं। जातक कथाओं की भाषा पालि है। इसमें उपदेश-वचन तो श्लोक में निबद्ध हैं, पर कथा गद्य में कही गयी है।

### 13.4 बृहत्कथा

भारतीय परम्परा में भगवान शिव सबसे पुराने ‘कथक’ (कथा कहने वाले के लिए इस शब्द का प्रयोग ‘कथा सरित्सागर’ में हुआ है) माने जाते हैं। वे नयी नयी कथाओं के जनक के रूप में प्रसिद्ध हैं। महाकवि सोमदेव रचित ‘कथा सरित्सागर’ के आरम्भ में यह उपकथा दी गयी है कि पार्वती शिव से ऐसी कथा सुनाने का अनुरोध करती हैं जो ‘किसी ने न सुनी हो और जो किसी और को न आती हो।’ कथा ऐसी हो कि ‘मन लगा रहे। बड़ी भी हो। इतनी बड़ी कि सुनते-कहते गणनातीत समय निकल जाए।’ पार्वती के अनुरोध पर शिव उन्हें विद्याधरों की ‘बृहत्कथा’ सुनाने को तैयार हो जाते हैं। पार्वती हठ करती हैं कि वे अकेली ही कथा सुनेंगी। शिव मान जाते हैं। वे पार्वती को साथ लेकर कैलाश पर्वत की अपनी गुफा में चले जाते हैं और कथा सुनाना आरम्भ करते हैं। गुफा के द्वार पर नन्दी पहर के लिए बिठा दिये जाते हैं। किसी को भी भीतर जाने की अनुमति नहीं। पर कथा सुनने के लोभ में शिव का एक गण, पुष्पदन्त, नन्दी को चकमा देकर, योगशक्ति से अदृश्य होकर, गुफा में प्रवेश कर जाता है। कथा आरम्भ होती है। दिन पर दिन, महीने पर महीने, बरस पर बरस बीतते जाते हैं। कथा ऐसी कि समाप्त होने को न आए। कथा पूरी होने पर पार्वती तृप्त और मुदित होती हैं। पर उनके साथ पुष्पदन्त भी पूरी कथा सुन लेता है। शामत का मारा वह यह कथा अपनी पत्नी जया को भी सुना देता है। जब पार्वती को यह बात मालूम होती है तो वे क्रोध से तिलमिला उठती हैं। उनके

क्रोध को देखकर पुष्पदन्त की तो घिग्घी ही बँध जाती है। उसका मित्र माल्यवान देवी से उसे क्षमा कर देने की प्रार्थना करता है। पर पार्वती को अपमान का गहरा आघात लगा है। वे पुष्पदन्त और माल्यवान दोनों को मनुष्य योनि में जन्म लेने का शाप दे डालती हैं। यह सुनकर जया भागती हुई आती है और रो-रो कर पार्वती से दया की भीख माँगती है। दोनों शापग्रस्त गण भी माता के चरणों पर माथा टेक देते हैं। पार्वती द्रवित तो हो जाती हैं, पर शाप तो शाप है। वे शापमुक्ति का उपाय बताते हुए कहती हैं कि सुप्रतीक नामक एक यक्ष शापग्रस्त होकर काणभूति के नाम से विन्ध्य के वन में पिशाच बन कर रहता है। यदि पुष्पदन्त मनुष्य योनि में यह कथा उसे सुना दे तो वह शापमुक्त हो जाएगा। फिर काणभूति माल्यवान को कथा सुना कर और माल्यवान काणभूति से यह कथा सुन कर मनुष्य योनि में इसका प्रचार करने पर शापमुक्त हो जाएँगे।

पुष्पदन्त मानव योनि प्राप्त कर पाटलिपुत्र के राजा नन्द का मन्त्री वररुचि बनता है और शापग्रस्त यक्ष (काणभूति) को शिव द्वारा सुनी हुई कथा सुनाता है। काणभूति शापमुक्त होकर वररुचि की प्रशंसा करता है और उसे 'शिव का अवतार' कहता है, क्योंकि शिव के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी कथा नहीं सुना सकता। वररुचि काणभूति को वही कथा अपने मित्र माल्यवान, तो गुणादय नाम से पृथ्वी पर जन्म ले चुका है, सुनाने को कहता है। गुणादय राजा सातवाहन का मन्त्री था, पर किसी कारण सम्प्रति वनवास झेल रहा है। काणभूति उसे वररुचि से सुनी 'बृहत्कथा' सुनाता है, जिसे सुन कर गुणादय उसे सात लाख छन्दों में, पैशाची भाषा में, लिख डालता है। उस घोर वन में स्याही न मिल पाने के कारण गुणादय को अपने खून से ही वह विशाल कथा लिखनी पड़ती है। लिखते लिखते जब वह अपनी कथा पढ़ने लगता, तो उसे सुनने के लिए आकाश में विद्याधरों का जमघट लग जाता। गुणादय कृत 'बृहत्कथा' को देख लेने के बाद काणभूति की शापमुक्ति हो जाती है। अब गुणादय के सामने 'बृहत्कथा' के प्रचार की समस्या उपस्थित होती है, जो उसकी शाप-मुक्ति की शर्त है। वह उसे लेकर राजा सातवाहन की राजधानी प्रतिष्ठानपुर पहुँचता है और अपने शिष्यों द्वारा अपना ग्रन्थ सातवाहन के अवलोकनार्थ भेजता है। पर राजा उसके बाह्य रूप को देखकर ही वितृष्णा से भर जाता है और धिक्कारते हुए ग्रन्थ को लौटा देता है। यह सुनकर गुणादय बहुत निराश होता है। वह नगर के बाहर स्थित बगीचे के पास ही एक ऊँची चट्टान पर बैठ जाता है। नीचे एक अग्निकुंड तैयार किया जाता है। जब कुंड में आग धधकने लगती है तब गुणादय अपनी कथा पढ़ना आरम्भ करता है। आसपास वन में रहने वाले मृग और पशुपक्षी उसे सुनने के लिए एकत्र हो जाते हैं। उन्हें कथा सुनाते हुए गुणादय सुनाए हुए एक एक पन्ने को आग में झोंकता जाता है। कथा सुनते हुए वन के पशु-पक्षी आहार त्याग देते हैं और स्तब्ध होकर आँखों में आँसू भर कर कथा सुनते रहते हैं। इसका पता चलते ही सातवाहन गुणादय के पास पहुँचता है और अपनी भूल स्वीकार कर उसके चरणों में गिर जाता है। पर तब तक उस 'बृहत्कथा' के छह खंड अग्नि की भेंट चढ़ चुके होते हैं। केवल सातवाँ खंड बचा है। उसमें राजा नरवाहन दत्त की कथा है। सातवाहन को एक लाख श्लोकों वाली यही कथा प्राप्त होती है। गुणादय की शापमुक्ति हो जाती है। सातवाहन उस कथा का अपनी भाषा में रूपान्तर कराता है और उसका प्रचार सारे 'भूमंडल' में हो जाता है।

इस कथा से 'कथा' की कई विशेषताएँ सामने आती हैं। पहली यह कि शिव भारतीय परम्परा के आदि 'मौखिक' कथाकार हैं। दूसरी यह कि 'कथा' में कौतूहल का तत्त्व इतना अधिक होता है कि पार्वती के रूप में श्रोता उसे बरसों सुनता रहता है और अन्त में 'तृप्त और मुदित' होता है। तीसरी यह कि उसमें 'नयापन' होना चाहिए ; सुनी हुई कथा को

सुनना उतना आकर्षक नहीं होता। यदि कोई कथक पहले सुनी हुई कथा सुनाता है तो श्रोता को उसमें रुचि नहीं होती। श्रोता नयी कथा को भारी खतरा उठाकर भी सुनने का प्रयास करता है। चौथी यह कि शापग्रस्त व्यक्ति उसे सुनकर शापमुक्त हो जाता है। यह 'कथा' का मूल्य पक्ष है। कथा प्रथमतः तो कौतूहल पैदा करने और उसका शमन करने की एक सुदीर्घ प्रक्रिया है, जिसकी परिणति श्रोता की तृप्ति और प्रसन्नता में होती है। पर उसके बाद वह श्रोता को अज्ञान और बन्धन से मुक्त कर एक बेहतर इन्सान बनाती है। यह कथा इस बात की ओर भी संकेत करती है कि 'कथा' के लिखित रूप में कौतूहल के साथ साथ संवेदना का तत्त्व भी मिल जाता है, जो श्रोता को भावमग्न कर देता है। एक बात यह भी सामने आती है कि कथा के 'लिखित' रूप ग्रहण कर लेने पर उसका अधिक प्रचार होता है। कथा के 'लिखित' रूप ग्रहण करने पर उसके विन्यास में जटिलता भी आ जाती है। शिव ने पार्वती को जो कथा सुनायी होगी, उसका रूप-विन्यास कैसा था, यह कहना मुश्किल है। पर अनुमान किया जा सकता है कि उसका विन्यास सरल, इकहरा और 'ऐतिहासिक काल' में गुम्फित घटनाओं का ही रहा होगा। पर गुणादय की जो रूपान्तरित कथा उपलब्ध है उसमें 'कथा' केवल समय की सीधी रेखा में नहीं चलती। एक कथा से दूसरी कथा निकलती है जो अतीत के किसी काल-बिन्दु से आरम्भ होकर सीधी रेखा में चलती हुई, अतीत के ही किसी काल-बिन्दु पर समाप्त हो जाती है या चलती हुई वर्तमान के उस बिन्दु तक आती है जहाँ से वह निकली थी। इस बीच मुख्य कथा का समय स्थगित या जम गया होता है। कथा प्रस्तुत करने की यह जटिल प्रविधि गुणादय की 'बृहत्कथा' में दिखाई पड़ती है। पुराणों के अनुसार राजा सातवाहन, अतएव गुणादय, का समय ई.पू. 495-490 ई. पू. जबकि आधुनिक विद्वान गुणादय का समय 78 ई. के आसपास निश्चित करते हैं। यदि हम पुराणों द्वारा निर्धारित काल को प्रामाणिक मानें तो गुणादय का समय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग 50 वर्ष बाद अनुमानित होगा। लगभग यही समय जातक कथाओं के संकलन और लेखन का भी रहा होगा। गुणादय कृत 'बृहत्कथा' आज अपने मूल रूप में उपलब्ध भी नहीं है, यहाँ तक कि ईसा की छठी शताब्दी में राजा दुर्विनीत कृत उसका संस्कृत रूपान्तर भी अब अप्राप्य है। पर जैन कवि संघदास मणि तथा धर्मदास मणि द्वारा किए गए प्राकृत रूपान्तर 'वसुदेवहिंडी', बुद्धस्वामी कृत संस्कृत रूपान्तर 'बृहत्कथा श्लोक संग्रह', क्षेमेन्द्र कृत 'बृहत्कथा मंजरी' और सोमदेव रचित 'कथासरित्सागर' में उसका मूल रूप, कुछ परिवर्तनों के बावजूद, सुरक्षित है। क्षेमेन्द्र और सोमदेव का समय ई. सन् 1029-1064 के बीच माना जाता है। इस प्रकार गुणादय कृत बृहत्कथा 'कथा' के 'मौखिक' से 'लिखित' होने तक के विकास को अच्छी तरह दर्शाती है।

अनुमानतः कथा शिव के मानस में गद्य में 'प्रकाशित' हुई होगी और उन्होंने पार्वती को अपनी कथा गद्य में ही सुनायी होगी, क्योंकि गद्य ही कथा सुनाने का स्वाभाविक माध्यम है। गुणादय ने शिव से सुनी कथा को श्लोकबद्ध किया। उसके पार्वती प्राकृत और संस्कृत रूपान्तर भी श्लोकों में ही हुए। श्लोक या पद्य कथा का प्रकृत माध्यम नहीं है। पर जब लेखन की सुविधाएँ विरल थीं, और कथा को भी स्मृति में ही सुरक्षित रखना पड़ता था तब कथाकार के लिए श्लोक का सहारा लेना उसकी विवशता भी थी। यदि कथा को लोकमानस में 'उद्भूत' माना जाए तो भी उसकी भाषा गद्य ही रही होगी। उसका पद्य रूप बाद में ही आया होगा।

'कथासरित्सागर' कथाओं का संचयन ही है। इन कथाओं में आनेवाली अधिकतर घटनाएँ सामान्य मानवीय अनुभवों से भिन्न, कार्य-कारण की परिधि से बाहर, अप्रत्याशित, आकस्मिक, संयोगाधृत, तक्रनिरपेक्ष, रोमांचक और सदानवीन हैं। इनमें कहीं रक्तस्नान

करने की इच्छुक अलक्तक में रँगी रानी को गरुण मांस—पिंड समझ कर आकाश में लेकर उड़ जाता है ; कहीं कोई आदमी जंगल में हिंस्र जानवरों से बचने के लिए सियारों द्वारा खाए हाथी की खाल में छिप जाता है, तभी वर्षा होने से खाल सिकुड़ जाती है और उस आदमी सहित वर्षा की धारा में बहते बहते पहले गंगा नदी में, और फिर समुद्र में जा पहुँचती है और गरुण उसे मांस समझ कर आकाश में ले उड़ता है और एक टापू में डाल देता है ; कहीं कोई कापालिक श्मशान में शव पर बैठ कर मन्त्र पढ़ता है, शव फूटकार करता है जिससे अग्नि की ज्वाला और सरसों के दाने निकलते हैं, कापालिक मुर्दे को थप्पड़ मारता है, जिससे वह उठ कर चलने लगता है ; कहीं कोई राक्षस किसी आदमी को कन्धे पर बिठाकर आकाशमार्ग से उड़ते हुए किसी पर्वत पर पहुँचा देता है ; कहीं समुद्र में तैरते हुए किसी आदमी को कोई महामत्स्य निगल जाता है, वह आदमी बहुत दिनों तक छुरी से उसके पेट का मांस काट कर खाते हुए जिन्दा रहता है, मत्स्य तैरता हुआ किसी द्वीप पर पहुँचता है, मछुआरे उसे पकड़ कर उसका पेट चीरते हैं और आदमी उसमें से साबुत निकल आता है ; कहीं कोई लड़का श्मशान में पड़े हुए नर—कपाल को लकड़ी के प्रहार से तोड़ डालता है तो उसमें से चरवी की धारा फूट कर उसके मुँह में गिरती है और वह बालक राक्षस बन जाता है ; कहीं कोई पात्र जंगल में चुपके से एक बूढ़े गीध की पाँख के भीतर चिपक जाता है और उसके साथ उड़ते हुए किसी 'कनक नगरी' में पहुँच जाता है ; कहीं कोई पात्र एक जंगली सुअर के पीछे दौड़ते दौड़ते उसके साथ किसी बिल में प्रवेश कर जाता है और वहाँ अपने को किसी सुन्दर उद्यान में पाता है जिसके चारो ओर विशाल भवन बने हुए हैं। एक प्रसंग में एक कथापात्र जंगल में भटक कर एक आश्रम में पहुँचता है। वहाँ उसे एक गुफा दिखाई पड़ती है। जब वह गुफा के भीतर झाँकता है तो वहाँ उसे रत्नों से भरा हुआ एक रमणीय भवन दिखाई देता है। उसके भीतर एक स्त्री बैठी हुई चक्र घुमा रही है। उस चक्र के चारो ओर भौंरे मँड़रा रहे हैं। उसके पास ही एक बैल और एक गधा खड़े हैं। उनके जुगाली करने से दूध और खून का फेन गिर रहा है। गिरते फेन की बूँदें मकड़ियों में बदलती जाती हैं। दूध से बने सफेद फेन से सफेद मकड़ियाँ और खून से बने काले फेन से काली मकड़ियाँ बन रही हैं। वे मकड़ियाँ अच्छे फूलों और जहरीले फूलों पर जाल बुन रही हैं। तभी सफेद और काले दोनो रंगों के फणवाला एक महासर्प आ कर उनको डसने लगता है। तब मकड़ियाँ चीत्कार करने लगती हैं। उनका चीत्कार सुन कर पास में बैठा एक तपस्वी अपने ललाट से ज्वाला छोड़ता है। उस ज्वाला से पाश कट जाते हैं और वे ऊपर जलती चमकती हुई ज्योति में लीन हो जाती हैं। तब वह स्त्री भी उठती है, अपना चक्र उठाती है और अपने साथ उस बैल और गधे को ले कर वहाँ से चली जाती है। बाद में साधु इस घटना का रहस्य उस कथापात्र को समझाता है। इन कथाओं को पढ़ते या सुनते हुए 'अविश्वास' का स्थगन आवश्यक है, श्रोता या पाठक 'यह कैसे हो सकता है?' जैसा प्रश्न नहीं करता, वह केवल यही जिज्ञासा करता है कि 'फिर क्या हुआ?'

गुणादय की कथा में घटनाएँ संख्या में इतनी अधिक और वैविध्यपूर्ण हैं कि वे मिल कर किसी एक सुघटित सम्पूर्ण कथा का निर्माण नहीं करतीं। इनके केन्द्र में एक कथा अवश्य है— वत्सराज उदयन और उनके पुत्र नरवाहन की कथा—पर उससे जुड़ी कथाओं का मूल कथा से अंगंगी भाव सम्बन्ध नहीं है। वे मिलकर भी एक कथा—शरीर का निर्माण नहीं करतीं, परस्परसम्बद्ध होकर भी वे एक—दूसरे से अलग हैं, स्वतन्त्र हैं। विषय की दृष्टि से उनमें कुछ समानताएँ ढूँढ़ी जा सकती हैं ; जैसे अधिकांश कथाएँ सामन्ती समाज के मिजाज़ का निदर्शन करती हैं। इन कथाओं के अधिकतर पात्र राजा, राजकुमार, सामन्त या वणिक् युवक हैं जो प्रायः रूपवान, वीर, साहसी, प्रेमी, बहुपत्नीगामी हैं। इसी प्रकार इनके अधिकतर स्त्री—पात्र राजकुमारियाँ, विद्याधरियाँ, वणिक् पुत्रियाँ आदि हैं जो

असाधारण सुन्दरियाँ और पुरुष को देखते ही उस पर मर-मिटनेवाली और कामासक्त हो जानेवाली हैं। अपवादस्वरूप कुछ स्त्रियाँ पतिव्रता भी हैं, पर अधिकतर रतिविषयक वर्जनाओं से मुक्त हैं। इन कथाओं के कुछ प्रमुख विषय हैं : संयोग-वियोग का साथ साथ चलना ; धीर-गम्भीर पुरुष का भी विरह में धैर्य खो देना ; शक्तिशाली शत्रु से दुश्मनी मोल लेना और विनाश को निमन्त्रण देना ; विद्या, शक्ति या तन्त्र-साधना से विद्याधर का पद प्राप्त करना ; धूर्तों की माया और प्रपंच-लीला ; मन को पवित्र रखना ; शुभ संकल्पों का शुभ फल होना ; उद्यम का कभी भी त्याग न करना ; धैर्य का सुफल ; राजघराने के लोगों से मैत्री स्थापित करने में सावधानी बरतना ; बहुओं के प्रति सासों की क्रूरता ; भाग्य के अनुकूल होने पर पौरुष द्वारा बड़े से बड़े लक्ष्य की, यहाँ तक कि अमरत्व की भी, प्राप्ति ; नारी चरित्र की गूढ़ता ; स्त्रियों की चरित्रहीनता और स्वभाव की चंचलता ; वेश्याओं की धूर्तता और कपटाचरण ; स्त्रियों को बन्धन में रखने की व्यर्थता ; स्त्रियों का, चाहें तो, अपनी शील-रक्षा में स्वयं ही समर्थ होना ; सभी स्त्रियों का दुराचारिणी न होना, यहाँ तक कि वेश्याओं का भी सदाचारी होना ; पूर्व जन्म के कर्मों और संस्कारों का वर्तमान जन्म पर प्रभाव ; खोयी हुई वस्तुओं की अचानक प्राप्ति ; मूर्खों की हास्यास्पद हरकतें ; मन्त्री की धूर्तता ; सर्वर्ण और शूद्र जातियों के बीच विवाह-सम्बन्ध ; ब्राह्मणों द्वारा चांडाल के यहाँ भोजन, आदि। इन विषयों में कोई 'एकलता' नहीं है। अधिक से अधिक ये प्राचीन और मध्यकाल के जीवन की झलक प्रस्तुत करती हैं।

भगवान शिव द्वारा पार्वती को सुनायी हुई 'बृहत्कथा' पुष्पदन्त (वररुचि) से यक्ष सुप्रतीक (पिशाच काणभूति) तक होती हुई माल्यवान (गुणाद्य) को प्राप्त होती है। प्रथम स्तर पर शिव कथक और पार्वती श्रोता हैं। पुष्पदन्त भी छिप कर कथा सुन लेता है। दूसरे स्तर पर पुष्पदन्त वररुचि के रूप में कथक बनता है और सुप्रतीक काणभूति के रूप में श्रोता होता है। यहाँ तक तो वह 'बृहत्कथा' मौखिक रहती है। पर गुणाद्य माल्यवान उसे श्लोकबद्ध करके लिखित रूप दे देता है। इससे कथा में गुणात्मक परिवर्तन की सम्भावना देखी जा सकती है। अब कथा 'कथित' और 'श्रव्य' न रह कर 'लिखित' और 'पाठ्य' बन जाती है। साथ ही 'लिखित' कथा का 'वाच्य' और 'श्रव्य' रूप भी बना रहता है। 'कथित' कथा के लिखित हो जाने से उसके स्वरूप में स्थिरता आ जाती है। अब श्रोता और श्रावयिता की साथ साथ उपस्थिति और प्रत्यक्ष सम्बन्ध की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है। कथा के लिखित रूप में 'कथाकार' श्रावयिता या कथक के रूप में अप्रत्यक्षतः उपस्थित रहता है ; 'कथा' और 'श्रोता' के बीच में पुस्तक आ जाती है। पहले कथा और श्रोता के बीच में कोई जीता-जागता इन्सान होता था ; भले ही वह उसके द्वारा निर्मित न हो, पर वह उसे सुनाता अपनी स्मृति से ही था और उसमें कुछ नया जोड़ देने में भी कोई बाधा न थी पर पुस्तक रूप में आते ही श्रावयिता की यह निजता और उसका विशेषाधिकार समाप्त हो जाता है। वह एक ऐसा 'वाचक' बन जाता है जो पूर्वनिर्मित कथा से इधर उधर नहीं जा सकता और यदि श्रोता 'पाठक' बन जाता है तब तो उसके और कथा के बीच 'वाचक' भी नहीं रहता और लिखित शब्द ही कथा और पाठक को जोड़ने का माध्यम बन जाते हैं।

इसका लाभ यह होता है कि 'कथा' के प्रचार-प्रसार में सहूलियत हो जाती है। शायद भगवान शिव की यही मंशा भी थी अन्यथा उनका गण किस खेत की मूली था कि छिप कर कथा सुन लेता। कथा शिव के मानस में 'प्रकाशित' हुई थी, जिसका लाभ सारे संसार को मिलना ही चाहिए था। पार्वती की चलती तो वह उन तक ही सीमित होकर ही रह जाती। पर अन्ततः वह गुणाद्य तक मौखिक रूप में पहुँची और उसने उसे लिखित रूप दे दिया। यदि शिव-पार्वती वाली कथा को हम थोड़ी देर के लिए भूल जाएँ तो यह भी

अनुमान करना असंगत न होगा कि गुणादय ने लोक में प्रचलित कथाओं को श्लोकबद्ध कर लिखित रूप दिया। इस प्रकार कथा के विकास का पहला चरण उसके 'मौखिक' से 'लिखित' रूप ग्रहण करने में माना जा सकता है।

जो हो, कथा के लिखित और पद्य रूप ग्रहण करने पर उसके रूप में परिवर्तन अवश्यंभावी था। कोई छोटी सी कथा तो थोड़े से समय में सुना दी जा सकती थी। बारी बारी से बहुत सी कहानियाँ भी कह दी जा सकती थीं। पर किसी बड़ी कथा को लम्बी अवधि तक जारी रखने के लिए उसके विन्यास में कुछ कौशल अपेक्षित था। पहले किसी एक कथा को किसी विशाल वृक्ष के मूल तने के रूप में प्रकल्पित कर लिया। फिर जैसे तने से शाखाएँ—प्रशाखाएँ और टहनियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार मूल कथा से अन्य कथाओं को जोड़ कर एक बृहद् कथावृक्ष का निर्माण हो गया। गुणादय की बृहत्कथा में, जो सम्प्रति कथासरित्सागर के रूप में उपलब्ध है, मूल कथा उदयन और उसके पुत्र नरवाहनदत्त की कथा है। मूल कथा के पहले 'पीठिका' के रूप में शिव की कथा के गुणादय तक पहुँचने की कथा है। तत्पश्चात् कौशाम्बी के राजा सहस्रानीक की कथा आरम्भ होती है। कथा के बीच में कथक संगतक राजा का मन बहलाने के लिए एक कथा सुनाता है, जो राजा की मनःस्थिति के अनुकूल है। यहाँ सहस्रनीक की कथा ठहर जाती है, समय का प्रवाह स्थगित हो जाता है और अतीत के किसी काल—बिन्दु से 'श्रीदत्त की कथा' आरम्भ हो जाती है जिसका अवसान सहस्रानीक के वर्तमान में होता है। सहस्रानीक की ठहरी हुई कथा और उसके साथ जुड़ा काल फिर अग्रसर हो जाता है। सहस्रानीक अपने पुत्र उदयन को राजा बना कर महाप्रयाण करता है और उसके बाद उदयन की कथा चल पड़ती है। उदयन की कथा से भी दूसरी कथाएँ, एक के बाद एक, निकलती हैं और श्रोता वर्तमान से अतीत में जाता आता रहता है। जब तक अन्य कथाएँ अतीत से वर्तमान की ओर आती रहती हैं, उदयन की कथा एक कालबिन्दु पर कीलित रहती है, पर ज्योंही उप—कथाओं का अवसान होता है, उदयन की कथा चल पड़ती है। बड़े कौशल से कथाकार भिन्न भिन्न पात्रों को गौण कथाओं का 'कथक' और श्रोता बना देता है। कभी कभी तो उप—कथा के भीतर भी एक दूसरी उप—कथा निकल पड़ती है और श्रोता का समय—बोध गड़बड़ा जाता है। मूल कथा रुक रुक कर अग्रसर होती रहती है। उदयन के बाद उसके पुत्र युवराज नरवाहनदत्त की कथा आरम्भ होती है, जिसे उसकी पत्नी रत्नप्रभा तथा उसके मित्र मरुभूति, हरिशिख, तपन्तक और गोमुख अपनी अपनी कथाओं से आगे बढ़ाते हैं। कहीं कहीं नरवाहनदत्त के सम्पर्क में आनेवाले अन्य पात्र भी कथा सुनाते हैं। कहीं कहीं तो एक कथा के भीतर, एक के बाद एक, तीन—तीन, चार—चार कथाएँ निकलती जाती हैं। एक प्रसंग में मुनि पिशंगजट नरवाहनदत्त को मृगांकदत्त की कथा सुनाते हैं, जिसके भीतर से, एक के बाद एक, प्रचण्डशक्ति, शापग्रस्त हाथी, भीमभट्ट, क्षपणक आदि की कथाएँ निस्सृत होती हैं और अन्त में नरवाहनदत्त की कथा में मिल जाती हैं। यह कथाओं के गुम्फन का ऐसा कौशल है, जो गुणादय के पहले, कदाचित्, संसार की किसी भी भाषा में नहीं मिलता।

शुद्ध और मौखिक कथा में भाषिक उत्कर्ष के लिए कोई स्थान नहीं होता। कथा की भाषा प्रकृतितः बहुत सरल और बोलचाल की भाषा के निकट होती है। कथा के श्रोता भी प्रायः सामान्य जन या बच्चे होते हैं जिनकी कथा से एकमात्र माँग रोचक और कौतूहल से भरी घटना—शृंखला होती है। पर यदि श्रोता कुछ 'विशिष्ट' हुआ और श्रावयिता में भी 'कथा' से ऊपर उठने की ललक हुई तो 'कथा' से सम्बद्ध वर्णनों में भाषिक सर्जनात्मकता आने की सम्भावना बन जाती है। प्रबुद्ध कथाकार 'कथा' को मात्र घटना—शृंखला से ऊपर ले जाना चाहता है। इसके लिए वह कथा को वर्णनों से जोड़ता है। वह कथा को थोड़ी देर

के लिए रोक देता है और प्रकृति या पात्र के सौन्दर्य के अंकन में लग जाता है। इसके लिए वह सामान्य व्यवहार की भाषा का प्रयोग न कर शैलीय उपकरणों से सम्पन्न एक ऐसी विशिष्ट भाषा का निर्माण करता है, जो वर्ण्य वस्तु को सजीव बिम्बों में बदल देती है। गुणाढ्य इस कला में माहिर है। उदाहरण के लिए 'वत्स देश' की सुन्दरता का बोध कराने के लिए वह कहता है कि "वह देश इतना मनोरम है कि लगता है स्वर्ग का अभिमान दूर करने के लिए विधाता ने उसे रचा है।" ; 'वहाँ उसने बिंबकि नामक राजा की कन्या को देखा जो साक्षात् वसन्त की शोभा के समान थी।' ; 'नगरी क्या है धरती का गहना है। अपनी ऊँची ऊँची अटारियों से वह नगरी अमरावती की हँसी उड़ाती लगती है।' ; 'वह वन्य शूकर देखने में ऐसा लगता था, जैसे दिन में रात का सारा अँधेरा एक पिंड बन कर जमा हो गया हो।' ; 'उनके स्वागत में कौशाम्बी नगरी नयी वधू की भाँति सजायी गयी थी।' ; 'कौशाम्बी इस तरह सजी हुई थी, जैसे कोई रमणी प्रवास पर गए हुए अपने पति के लौट कर आने पर उसके स्वागत में सजी हुई हो। सारे भवनों के झरोखे खुले थे, मानो अपने राजा को निहारने के लिए नगररमणी ने असंख्य आँखें खोली हों। सफेद चूने से पुते भवनों के द्वारा सारी नगरी हँसी से खिलखिलाती लगती थी।' ; 'राजकुमारी क्या थी, यौवन के मद से उफनती सी या फूलों के लद जाने से झुक झुक पड़ती लता जैसी लगती थी— इस प्रकार के सैकड़ों वाक्य 'बृहत्कथा' में भरे हुए हैं, जो वर्णनों को सजीव बिम्बों में बदल देते हैं।

दुहराने की आवश्यकता नहीं कि सर्जनात्मकता की दिशा में यह कथा की यात्रा का दूसरा चरण है, जिसके उदाहरण संस्कृत साहित्य में, अन्यत्र भी, भरे पड़े हैं।

'कथा' को 'उपदेश' या 'शिक्षा' से जोड़ने का इतिहास भी कदाचित् कथा की तरह ही पुराना है। सम्भव है कि आदि मानव भी शिकार की कथाएँ सुनाकर अपने बच्चों को सम्भावित खतरों से बचने का उपदेश देता रहा हो। ज्ञात भारतीय परम्परा में सर्वप्रथम वेदों में कथा का उपयोग ज्ञान या चिन्तन को सुग्राह्य बनाने के लिए किया गया है। उपनिषदों में इस परम्परा का विकास देखा जा सकता है। पर उपदेश या शिक्षा के लिए बड़े पैमाने पर कथा के उपयोग का सबसे पुराना उदाहरण जातक कथाएँ हैं। कथासरित्सागर में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसकी अधिकतर कथाओं में जीवन में धैर्य से काम लेने, असफल होने पर भी प्रयत्न न छोड़ने, वेश्याओं और धूर्तों से सावधान रहने, प्रिय से वियोग हो जाने पर भी आशा का त्याग न करने, अधिक सन्तान पैदा न करने, मन को पवित्र रखने, शुभ संकल्प के साथ उद्यम करने, साहसी बनने, राजपुरुषों से मित्रता करने में सावधानी बरतने, स्त्रियों का सहेली के पति से न मिलने, बल के अपर्याप्त होने पर युक्ति से काम लेने, भाग्य के अनुकूल होने पर पौरुष आजमाने, अपने पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों पर विश्वास करने, पराक्रमी व्यक्ति के सदा विजयी होने आदि के उपदेश दिये गये हैं।

### 13.5 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश'

कथा को उपदेश का माध्यम बनाने का एक बढ़िया उदाहरण पं. विष्णु शर्मा द्वारा रचित पंचतन्त्र है, जिसकी रचना पहली शताब्दी ईसवी के आसपास हुई थी। पंचतन्त्र की रचना एक राजा के 'जड़ बुद्धि', 'अविनीत, उच्छृंखल और मूर्ख' राजकुमारों को 'राजनीति और व्यवहार-नीति' की शिक्षा देने के लिए हुई थी। यह भी कथाओं का संकलन ही है। यह पाँच प्रकरणों में विभक्त है। प्रत्येक प्रकरण में परस्परगुम्फित अनेक कहानियाँ हैं, जो एक ही विषय का प्रतिपादन करती हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि यह पशु-पक्षियों की कथा है। इस कथा के पशु-पक्षी मनुष्य की तरह आचरण करते हैं और भाषा भी मनुष्य

की ही बोलते हैं। बाल-मन इसमें कोई असंगति नहीं देखता, क्योंकि वह 'कथा' में यह नहीं पूछता कि 'ऐसा कैसे हुआ?' ; बल्कि यह पूछता है कि 'फिर क्या हुआ?' अविश्वास बाल-मन में नहीं होता। शुद्ध कथा-श्रोता की भी यही विशेषता होती है। 'कार्य-कारण' सम्बन्ध की दृष्टि से पंचतन्त्र की कथाओं में असंगतियाँ भरी हुई हैं। कौतूहल का तत्त्व ही कथा को आगे बढ़ाता है। पर उसकी प्रत्येक कथा किसी न किसी प्रयोजन से निर्मित है। उसमें कथा गौण है, प्रयोजन ही प्रधान है। यह भी कथा के विकास का एक चरण है, जो वर्णन की सर्जनात्मकता के समानान्तर अग्रसर हुआ है। एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पंचतन्त्र में भाषिक सर्जनात्मकता पैदा करने की कोई कोशिश नहीं दिखाई पड़ती। कारण यह है कि यह केवल बच्चों के निमित्त निर्मित है, जिनकी भाषिक सर्जनात्मकता में कोई रुचि नहीं होती। 'पंचतन्त्र' से पहले संकलित जातक कथाओं में कथा सुनाने वाले स्वयं भगवान बुद्ध हैं और श्रोता भिक्षु-गण। सारी कथाएँ अलग-अलग ही हैं। पंचतन्त्र की कथाओं के मुख्य कथक विष्णुशर्मा और श्रोता राजकुमार हैं। घटनाएँ इतनी रोचक हैं कि राजकुमार आगे की कथा सुनने के अपने कुतूहल को रोक नहीं पाते। केन्द्रीय कथा किसी पशु या पक्षी समुदाय की होती है, जिसके पात्रों को कथक बना कर परत-दर-परत अन्य कथाएँ सुनायी जाती हैं। उपदेशों में बालकों की रुचि बिलकुल नहीं है और विष्णु शर्मा इसे अच्छी तरह जानते हैं। वे पशु-पक्षियों से सम्बद्ध कथाओं को कुतूहल से भर देने की कला में माहिर हैं। पर इसके साथ ही वे उनमें 'शिक्षा' के तत्त्व भर देने की कला में भी माहिर हैं। छह महीने बीतते-बीतते कथा तो समाप्त हो जाती है, पर राजनीति और व्यवहार-नीति के उपदेश राजकुमारों के मन पर अंकित हो जाते हैं। 'कथाकार' को 'कथा' की उपयोगिता का पता चल जाता है। कथा के परवर्ती विकास में 'कथाकार' के इस ज्ञान का भी महत्वपूर्ण स्थान है।

'हितोपदेश' मोटे तौर पर 'पंचतन्त्र' का स्वतन्त्र निरूपण और प्रस्तुतीकरण है। इसके लेखन का समय सुनिश्चित नहीं है। संस्कृत पाठ में दी गयी पुशिपका(अन्तिम पृष्ठ पर दी जाने वाली सूचना) के अनुसार इसकी रचना नारायण पंडित ने की थी, जो किसी धवलचन्द्र नामक राजा के राज्याश्रित पंडित या गुरु थे। किसी भी अन्य सूत्र से नारायण पंडित या उनके आश्रयदाता राजा का पता नहीं चलता। कुछ स्रोत उनका समय बारहवीं शताब्दी और कुछ 1675 ई. बताते हैं, पर यह अनुमान मात्र है। 'पंचतन्त्र' के समान इसकी रचना भी गद्य-पद्य मिश्रित रूप में हुई है और प्रधानतः उपदेश-कथाओं का संकलन है। पंचतन्त्र की तरह इसमें भी किशोर राजकुमारों को राजनीति और व्यवहारनीति के उपदेश विभिन्न कथाओं के माध्यम से दिये गये हैं। स्वयं नारायण पंडित ने कहा है कि 'हितोपदेश' की रचना का मुख्य उद्देश्य किशोरों को इस प्रकार की शिक्षा देना है कि वे व्यवहार-नीति सीख सकें और जिम्मेदार युवकों के रूप में विकसित हो सकें। राजनीति के अन्तर्गत युद्ध और सन्धि तथा इस कार्य में होने वाले सहायकों के चयन में बरती जाने वाली नीतियों पर विशेष ध्यान दिया गया है। ये बातें 'पंचतन्त्र' में भी हैं, पर 'प्रचतन्त्र' की तुलना में यह अधिक सरल और रोचक शैली में लिखा गया है। इसकी अनेक कथाएँ 'पंचतन्त्र' से ली गयी हैं, पर नारायण पंडित ने कई कथाओं की कल्पना स्वयं भी की है। 'पंचतन्त्र' की कथाओं को भी उन्होंने नये ढंग से प्रस्तुत कर उन्हें अधिक प्रवाहपूर्ण और ग्राह्य बना दिया है। इसलिए इसे 'पंचतन्त्र' का मात्र सरलीकरण नहीं कहा जा सकता, पुनर्लेखन भले ही कह लें। कथ्य और संरचना में समान होने पर भी 'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र' की तुलना में अधिक व्यावहारिक माना जाता है।

'हितोपदेश' 'पंचतन्त्र' से स्वतन्त्र ग्रन्थ होने के बावजूद कथ्य और संरचना की दृष्टि से भारतीय कथा-परम्परा में किसी विकास का सूचक नहीं है।

### 13.6 सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता'

ऐतिहासिक दृष्टि से 'पंचतन्त्र' के बाद कथा-रचना की परम्परा में सुबन्धु का नाम आता है। 'रोमांस' का विकास यूरोप में भले ही बाद की घटना हो, भारत में उसका विकास 'बृहत्कथा' से ही माना जा सकता है। बृहत्कथा की कथाएँ यूरोपीय 'रोमांस' की सारी विशेषताओं से युक्त हैं। कोई कमी है तो किसी एकल कथा की। यह कमी ई. सन् 500 या उसके कुछ पूर्व विद्यमान सुबन्धु की वासवदत्ता द्वारा पूरी होती है। पर वासवदत्ता की कथा आकार में भले ही 'पर्याप्त लम्बी' या एक पूरी पुस्तक को निर्मित करने वाली हो, खुद में वह बहुत क्षीण है। वस्तुतः सुबन्धु का सारा जोर कथा के पात्रों और उनके परिवेश के, अपने काल के काव्यरसिकों की रुचि के अनुरूप 'काव्यगुणों' से सम्पन्न, सविस्तार वर्णनों पर है। सुबन्धु को केवल इस बात का श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने गुणाद्य की तरह अपनी कथा पद्य में न प्रस्तुत कर गद्य में प्रस्तुत की और कथा को उन समस्त साहित्यिक विशेषताओं से युक्त कर दिया जिसका एकाधिकार केवल कवियों को प्राप्त था। यह एक तरह का ऐसा प्रयोग था, जिसका साहस किसी अन्य गद्यलेखक ने नहीं किया था।

### 13.7 बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित'

सुबन्धु के बाद 'कथा' को एक नया आयाम प्रदान करने वाले लेखक बाणभट्ट हैं। कथा की दृष्टि से 'कादम्बरी' गुणाद्य की बृहत्कथा की एक कथा—जो कथासरित्सागर में 'मकरन्दिकोपाख्यान' के रूप में उपलब्ध है—पर आधारित है, पर बाणभट्ट ने अपने कथासंसार को अपने 'विज्ञ' के अनुरूप बिलकुल नया रूप दे दिया है। इसका कथाविन्यास अद्भुत रूप से नया और आश्चर्यचकित करनेवाला है। यद्यपि 'कथा के भीतर कथा' की विन्यास-कला गुणाद्य की बृहत्कथा और विष्णु शर्मा के पंचतन्त्र में ही विकसित हो चुकी थी पर बाणभट्ट ने पहली बार परस्पर गुँथी कथाओं को कथा की एकल इकाई में परिणत करने में सफलता प्राप्त की थी। कहना न होगा कि कथा के भीतर कथा की योजना द्वारा अपने पूरे विज्ञ को किसी एकल कथासंसार में रूपायित कर देना कथा-प्रतिभा का ऐसा चमत्कार था जो अब तक संसार की किसी भी भाषा में सम्भव नहीं हुआ था। इसके पहले गुणाद्य ने, और कुछ दूर तक विष्णु शर्मा ने भी, छोटी छोटी कथाओं को एक दूसरे के भीतर नियोजित करके एक बड़ी कथा निर्मित करने का प्रयास किया था, जिसके केन्द्र में कोई एक 'विषय' होता था पर किसी बड़े और प्रकाशमान 'विज्ञ' की अभिव्यक्ति के लिए एक के भीतर एक गुम्फित कथाओं द्वारा 'पर्याप्त बड़े आकार' की, पूरी पुस्तक को निर्मित करने वाली, कथा का निर्माण अब तक किसी कथाकार ने नहीं किया था। बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' के अतिरिक्त जो दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना की थी, उसका नाम 'हर्षचरित' है। 'हर्षचरित' में वर्ध वंश श्रीहर्ष का, जो एक प्रतापी सम्राट था और भारतीय इतिहास में उसे अन्तिम महान शासक के रूप में स्वीकार किया गया है, चरित्र प्रस्तुत किया गया है।

### 13.8 दंडी कृत 'दशकुमारचरित'

बाणभट्ट के बाद संस्कृत कथाकार दण्डी ने 'दशकुमारचरित' नामक 'पुस्तकाकार कथा' की रचना की। 'दशकुमारचरित' में दस राजकुमारों की अनुभव-कथाएँ अलग-अलग वर्णित हैं, जिन्हें आपस में जोड़ने वाला कथापात्र मगध राजकुमार राजवाहन है। पर ये

कथाएँ मिलकर किसी एक सुसम्बद्ध कथानक का निर्माण नहीं करतीं। कहा जा सकता है कि परस्परभिन्न कथाओं को जोड़ने की दिशा में यह भी एक उल्लेखनीय प्रयास था, यद्यपि कादम्बरी की तुलना में यह कहीं नहीं ठहरता।

### 13.9 संस्कृत कथा—परम्परा का अवसान

दसवीं सदी में धनपाल ने तिलकमंजरी के रूप में कादम्बरी की परम्परा को जीवित करने का प्रयत्न तो किया पर संरचना की दृष्टि से उसे भी कादम्बरी का विकास नहीं कहा जा सकता।

दसवीं शताब्दी के बाद धीरे-धीरे संस्कृत को राजाश्रय प्रदान करनेवाले हिन्दू राज्य समाप्त हो गये, इस कारण संस्कृत काव्य की परम्परा लगभग लुप्त हो गयी।

### 13.10 सारांश

संस्कृत में कथा—परम्परा का आरम्भ वेदों से ही हो जाता है। उपनिषद् और पुराण उसकी अगली कड़ी हैं। महाकाव्य के रूप में वाल्मीकि कृत ‘रामायण’ में राम—कथा प्रस्तुत की गयी है। ‘महाभारत’ का रचना—काल ई. पू. सन् 800—100 माना जाता है। यों तो इसकी मुख्य कथा शान्तनु—वंशज पांडवों और कौरवों के सम्बन्धों और युद्ध की है, पर मुख्य कथा के साथ इतने उपाख्यान जुड़े हुए हैं कि इसे उपाख्यानों का महाकोश भी कहा जा सकता है। इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है। इसे भारतीय इतिहास का जाज्वल्यमान दीपक कहा गया है।

जातक कथाओं के रूप में भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को अपने पूर्वजन्म की कथाएँ सुनायी थीं। इन कथाओं का संकलन ई. पू. छठी शताब्दी में कभी हुआ होगा। इसमें कुल 547 कथाएँ संकलित हैं। सारी कथाएँ अलग—अलग हैं। इसमें कथा के भीतर कथा या कथाओं की योजना नहीं की गयी है। इसकी अधिकतर कथाओं में जीवन में धैर्य से काम लेने, असफल होने पर भी प्रयत्न न छोड़ने, वेश्याओं और धूर्तों से सावधान रहने, प्रिय से वियोग हो जाने पर भी आशा का त्याग न करने, अधिक सन्तान पैदा न करने, मन को पवित्र रखने, शुभ संकल्प के साथ उद्यम करने, साहसी बनने, राजपुरुषों से मित्रता करने में सावधानी बरतने, स्त्रियों का सहेली के पति से न मिलने, बल के अपर्याप्त होने पर युक्ति से काम लेने, भाग्य के अनुकूल होने पर पौरुष आजमाने, अपने पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्मों पर विश्वास करने, पराक्रमी व्यक्ति के सदा विजयी होने आदि के उपदेश दिये गये हैं। जातक कथाओं की भाषा पालि है। इसमें उपदेश—वचन तो श्लोक में निबद्ध हैं, पर कथा गद्य में कही गयी है।

कथा को उपदेश का माध्यम बनाने का एक बढ़िया उदाहरण पं. विष्णु शर्मा द्वारा रचित पंचतन्त्र है, जिसकी रचना पहली शताब्दी ईसवी के आसपास हुई थी। पंचतन्त्र की रचना एक राजा के ‘जड़ बुद्धि’, ‘अविनीत, उच्छृंखल और मूर्ख’ राजकुमारों को ‘राजनीति और व्यवहार—नीति’ की शिक्षा देने के लिए हुई थी। यह भी कथाओं का संकलन ही है। यह पाँच प्रकरणों में विभक्त है। प्रत्येक प्रकरण में परस्परगुम्फित अनेक कहानियाँ हैं, जो एक ही विषय का प्रतिपादन करती हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि यह पशु—पक्षियों की कथा है। उसकी प्रत्येक कथा किसी न किसी प्रयोजन से निर्मित है। उसमें कथा गौण है, प्रयोजन ही प्रधान है। केन्द्रीय कथा किसी पशु या पक्षी समुदाय की होती है, जिसके

पात्रों को कथक बना कर परत-दर-परत अन्य कथाएँ सुनायी जाती हैं। इन कथाओं में अधिकतर राजनीति के उपदेश निबद्ध किये गये हैं।

भारत में कथा-कहानी

‘हितोपदेश’ ‘पंचतन्त्र’ से स्वतन्त्र रचना होने पर भी कथ्य और संरचना की दृष्टि से भारतीय कथा-साहित्य में किसी विकास का सूचक नहीं है।

### अभ्यास

1. संस्कृत में कथा-परम्परा के आरम्भ और विकास का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. उपदेश-कथा के रूप में जातक-कथाओं का परिचय दीजिए।
3. भारतीय कथा साहित्य में गुणाढ्य कृत ‘बड्डकहा’ का महत्त्व प्रतिपादित कीजिए।
4. ‘पंचतन्त्र’ और ‘हितोपदेश’ का परिचय देते हुए उपदेश-कथा के रूप में उनका महत्त्व बताइए।
5. कथा-शिल्प के विकास में जातक कथाओं, ‘कथासरित्सागर’, ‘पंचतन्त्र’ और ‘कादम्बरी’ की भूमिका का विवेचन कीजिए।



---

## इकाई 14 नवजागरण काल में भारतीय कहानी

---

### इकाई की रूपरेखा

- 14.0 उद्देश्य
- 14.1 प्रस्तावना
- 14.2 भारतीय साहित्य की बहुभाषिक स्थिति
- 14.3 भाषिक पदानुक्रम और अंग्रेजी का हस्तक्षेप
  - 14.3.1 भाषिक पदानुक्रम में परिवर्तन
  - 14.3.2 भारतीय भाषाओं का उभार
- 14.4 मुद्रण का आरंभ और पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार
- 14.5 वाचिक परम्परा से लिखित-मुद्रित परम्परा में संक्रमण
  - 14.5.1 संक्रमण का विराट सांस्कृतिक आयाम
  - 14.5.2 नया पाठक समुदाय
  - 14.5.3 निज-भाषा उन्नति
- 14.6 मुद्रित परम्परा में कहानी
  - 14.6.1 परम्परागत कहानी के अवशेष
  - 14.6.2 आधुनिक कहानी में युगान्तर का चिह्न
- 14.7 विभिन्न भारतीय भाषाओं में आधुनिक कहानी का सूत्रपात
  - 14.7.1 पहली कहानी
  - 14.7.2 कुछ सामान्य निष्कर्ष
- 14.8 सारांश  
अभ्यास

---

### 14.0 उद्देश्य

---

इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप

- साहित्यिक नवजागरण के अखिल-भारतीय बहुभाषिक सन्दर्भ का परिचय प्राप्त करेंगी/करेंगे।
- नवजागरण काल में विभिन्न भारतीय भाषाओं में आधुनिक भारतीय कहानी के सूत्रपात और स्वरूप के बारे में जानेंगी/जानेंगे।
- अलग-अलग भारतीय भाषाओं में नवजागरण के पदार्पण और कहानी के सूत्रपात के समय में देर-सबेर का कारण समझेंगी/समझेंगे।

---

### 14.1 प्रस्तावना

---

इकाई से आप भारतीय कहानी के इतिहास के सिलसिले को जानने की शुरुआत करेंगी/करेंगे। इस इकाई में हम अपना ध्यान नवजागरणकालीन कहानी पर केन्द्रित करने जा रहे हैं।

आप जानती/जानते हैं कि 19वीं शताब्दी में भारत विदेशी सत्ता की अधीनता में, स्वाधीनता की चेतना की प्रथम सुगबुगाहट और राष्ट्रीय भावना की आहट के साथ राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी स्तरों पर एक विराट हलचल से गुजरा जो उसे युगान्तर की ओर ले गयी। इसे हम नवजागरण काल के नाम से जानते हैं। नवजागरण का सन्दर्भ बहुत बड़ा है क्योंकि वह युगान्तर की भूमिका है लेकिन उसे देखने के लिये कहानी का झरोखा बहुत छोटा, क्योंकि नवजागरणकाल में कहानी ठीक से शुरू भी नहीं हो पाई थी। इस प्रस्तावना में हम नवजागरण के केवल उन सूत्रों को एकत्र कर रहे हैं जिनका सम्बन्ध आधुनिक कहानी के जन्म से है।

साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के पदार्पण का प्रकट चिह्न रचना के माध्यम के रूप में गद्य की प्रतिष्ठा है। यह केवल भाषान्तर का सवाल नहीं है, नयी चेतना की अभिव्यक्ति के लिये नये माध्यम की जरूरत का सवाल है। नवजागरण की परिस्थितियों ने यह जरूरत उत्पन्न कर दी थी। गद्य ने इस जरूरत को पूरा किया। गद्य प्रमुखतः विचार-विश्लेषण-विमर्श-परामर्श की भाषा है। गद्यभाषा का सृजनात्मक रूप कथा है।

आधुनिक कथात्मक गद्य पहले-पहल उपन्यास की तरह प्रकट हुआ था। आधुनिक उपन्यास का प्रथम पदार्पण भी हमारे साहित्य को नवजागरण की देन है। कहानी का आगमन उसके बाद, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से शुरू हुआ।

नवजागरण काल में ही भारत में मुद्रण की यांत्रिकपद्धति के आरंभ तथा छापेखाने की स्थापना ने प्रकाशन को एक व्यवसाय के रूप में स्थापित किया। व्यवसाय को बाजार की जरूरत होती है। बाजार अपने हित और लाभ के अनुसार उत्पाद के प्रचार-प्रसार-वितरण की व्यवस्था और प्रबन्धन में भी अपना कौशल इस्तेमाल करता है। उपन्यास अपनी रोचकता के कारण प्रकाशन व्यवसाय का सबसे अधिक लोकप्रिय और बाजारयोग्य उत्पाद साबित हुआ था। आधुनिक कहानी का जन्म तब अभी कुछ ही भारतीय भाषाओं में, वह भी 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध या लगभग अन्त में जाकर हुआ था। नवजागरण के दौर में उसकी उपस्थिति विरल, लगभग नगण्यप्राय थी। नवजागरण को हम उन परिस्थितियों के निर्माण और परिवर्तनों के जन्म का दौर कह सकते हैं जिन्होंने आधुनिक कहानी को संभव बनाया।

आधुनिक कहानी की शुरुआत न केवल भारतीय भाषाओं में बल्कि विश्व भर की भाषाओं में पत्रपत्रिकाओं के प्रकाशन की शुरुआत से जुड़ी है। यूरोप और अमरीका की तरह भारत में भी कहानी के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा हाथ है।

नवजागरण की अपनी विधा निबन्ध है जो प्रमुख रूप से विचार-विमर्श की विधा है। निबन्ध नवजागरण की चेतना की सुगबुगाहट की अभिव्यक्ति का माध्यम बना। पत्र-पत्रिकाओं में वैचारिक सामग्री के बीच रोचकता और आकर्षण गूँथने के उद्देश्य से कथा भी शामिल की जाती थी। शुरू-शुरू में इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित किये जाते थे। लेकिन पाठको ने धारावाहिक उपन्यास अंशों की तुलना में एक अंक में सम्पूर्ण हो जाने वाली कहानी में अधिक रुचि ली। इससे कहानी की माँग को बढ़ावा मिला। एक बार आरंभ होने के बाद कहानी इतनी लोकप्रिय हुई कि देखते ही

देखते पूरी तरह से कहानी को समर्पित पत्रिकाओं का प्रकाशन आरंभ हो गया। सामाजिक राजनीतिक चेतना के वाहक के रूप में निबन्ध की जगह कहानी ने ले ली। लेकिन वह नवजागरणकाल के बाद की बात है।

इतिहास में नवजागरण की अवधि 19वीं शताब्दी घोषित की गयी है। साहित्य के इतिहास से गुजरते हुए दिखाई देता है कि भारत के सभी भूभागों में इसका दौर समान रूप से नहीं, आगे पीछे हुआ है। इतिहास एक तटस्थ, निरपेक्ष और उदासीन यथातथ्यता के साथ अपनी तिथियों की घोषणा करके चौखटा रच देता है लेकिन आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने साहित्य को उचित ही जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब कहा है इसलिये साहित्य में युग-युगान्तर का निर्धारण भी साहित्य में अभिव्यक्त जनता की चित्तवृत्ति के लक्षणों से होना चाहिये। अधिकतम भारतीय साहित्यों को शामिल करने के उद्देश्य से इसका निर्धारण करें तो नवजागरण का आखिरी छोर बीसवीं सदी के पहले दशक या 1910 ईस्वी तक जाएगा। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित नवजागरण के अखिल भारतीय साहित्यों के इतिहास में इस अवधि को 1850 से लेकर 1910 तक विस्तृत माना गया है। यह एक उचित व उपयुक्त कालांकन है।

## 14.2 भारतीय साहित्य की बहुभाषिक स्थिति

भारत के लिये बहुभाषिकता एक अनिवार्य ऐतिहासिक संदर्भ है। किंचित विनोदपूर्वक कहा जाता है कि जर्मनीवासी जर्मन बोलता है, फ्रान्सीसी फ्रेन्च बोलता है, अंग्रेज अंग्रेजी बोलता है लेकिन एक भारतीय पंजाबी, गुजराती, मराठी, मलयालम आदि आदि में से कुछ बोलता है। कहते समय भुला दिया जाता है कि भारत की स्थिति इसलिये भी विशिष्ट है कि पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र जैसा एक एक प्रान्त यूरोप के एक-एक देश के बराबर है। जॉर्ज ग्रियर्सन ने 1894 से 1928 के दौरान अंग्रेजी सरकार के लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया अर्थात् भारत की भाषाओं के सर्वेक्षण द्वारा कुल 364 भारतीय भाषाओं और बोलियों की गणना की थी। ग्रियर्सन का काम नवजागरण की अवधि के भीतर ही शुरू हो चुका था। तब से अब तक इस जंजाल में कई गुना अधिक इजाफा हो चुका है। 1991 में भारतीय जनगणना में स्वतंत्र व्याकरणिक संरचना वाली 1576 मातृभाषाएँ तथा 1796 अन्य मातृभाषाएँ दर्ज की गयी हैं।

भारत के बहुभाषिक ऐतिहासिक सन्दर्भ से अपरिचित व्यक्ति के लिये निस्संदेह यह एक जंजालपरक स्थिति है। बाइबिल में एक टॉवर ऑफ बैबल की कहानी आती है। इस मीनार के सैकड़ों निवासियों में से प्रत्येक दूसरे से अलग भाषा बोलता है, कोई किसी की बात नहीं समझता, हर समय एक अनसमझा कोलाहल छाया रहता है, एक ऐसा नक्कारखाना जिसमें किसी तूती की आवाज सुनाई नहीं देती। अंग्रेजी सरकार की भाषा सर्वेक्षण परियोजना भाषा की राजनीति खेलने और फूट डालने तथा विभाजित करने के औजारों में भाषा को भी एक औजार बनाने की थी। ग्रियर्सन का उद्देश्य या शायद मजबूरी भारत को इसी बिम्ब में देखने की रही होगी।

नवजागरण के समय भी आज की ही तरह देश के विभिन्न भागों में बोली जाने वाली भाषाओं की गिनती के सन्दर्भ में स्थिति निस्संदेह जटिल थी लेकिन भाषिक पदानुक्रम की दृष्टि से विभिन्न समुदायों के बीच एक व्यवस्था भी थी जो भारत को टॉवर ऑफ बैबल में विघटित होकर रह जाने से बचाती थी। पिछले सौ वर्षों में यह ऐतिहासिक संदर्भ नष्ट भी किया जा चुका है। लेकिन भारतीय नवजागरण के बारे में पढ़ते हुए इस सन्दर्भ का

ज्ञान यह समझने में आपकी मदद करेगा कि भारत ने किस संसार से निकल कर आधुनिक काल में प्रवेश किया।

नवजागरण काल में  
भारतीय कहानी

डॉ. शिशिरकुमार दास ने साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित व प्रकाशित भारतीय साहित्य के इतिहास के नवजागरण खण्ड में प्राक्कथन में यह सूचना दी है कि भाषावैज्ञानिकों के अनुसार यदि कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सीधी रेखा खींची जाए और हर पाँच या दस मील पर निशान लगाया जाए तो पता चलेगा कि किसी भी आगामी बिन्दु पर भाषाओं के बीच आने वाले अन्तर के बावजूद उनमें ऐसा भेद उत्पन्न नहीं होता कि संप्रेषण सर्वथा भंग हो जाए। यह अलग बात है कि पैमाने के अन्तिम छोरों पर यानी कश्मीर और कन्याकुमारी में भाषाएँ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और स्वतंत्र हो उठती हैं, तब उनके बीच संप्रेषण—भंग भी सर्वथा सम्पूर्ण हो चुकता है।

दर्ज करने लायक बात यह है कि प्रत्येक भारतीय भाषा का साहित्यिक इतिहास थोड़ा बहुत आगे पीछे विचार, विषयवस्तु, रूप और संरचना आदि सभी स्तरों पर एक जैसी यात्रा और एक जैसे पड़ावों के विशिष्ट स्थानीय अनुभवों से होकर गुजरता है। इसी कारण भारतीय साहित्य के इतिहास को अनेक भाषाओं में लिखित एक साहित्य कहा जाता है। आधुनिक कहानी का आरंभ भी इसका प्रमाण है।

---

### 14.3 भाषिक पदानुक्रम और अंग्रेजी का हस्तक्षेप

---

बहुभाषी समाजों के बीच चाहे जितना भी भाषिक वैविध्य हो, उसके बावजूद संप्रेषण की इच्छा, आवश्यकता, अनिवार्यता के कारण उनमें से कोई एक भाषा संप्रक्र भाषा का रूप ले ही लेती है। संप्रेषण की इच्छा को राजनीति चाहे अपनी कुटिलता से भंग कर भी दे, करती भी रही है, आवश्यकता और अनिवार्यता का निवारण नहीं कर सकती इसलिये व्यापारिक, धार्मिक, राजनीतिक/प्रशासनिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक आदि किन्हीं कारणों से कोई भाषा संप्रक्रभाषा की तरह उभर ही आती है।

नवजागरण राजनीतिक, प्रशासनिक स्तर पर अंग्रेजी राज के स्थिर और व्यवस्थित हो जाने के समानान्तर चलती प्रक्रिया थी। वह एक साथ इसका परिणाम और प्रतिक्रिया कही जा सकती है। उनकी फूटनीति के पहले तक भाषाओं के बीच भौगोलिक निकटता के कारण तथा सामाजिक सांस्कृतिक जुड़ावों के कारण भाषिक भेदभाव न्यूनतम तक ही सीमित रहे थे। उस काल तक प्रदेशों की सीमाएँ भाषा के आधार पर नहीं खींची गयी थीं और एक भाषिक समुदाय के लोगों को अन्य भाषाभाषियों के साथ आदान-प्रदान की जरूरत स्वाभाविक रूप से ज्यादा गहरी थी। व्यापार वाणिज्य का विस्तार अखिल भारतीय था जो अटूट भाषिक संप्रेषण के अखिल भारतीय विस्तार का प्रमाण भी था।

संस्कृत और फारसी—अरबी इस भाषिक वैविध्य के बीच सूत्र का काम करने वाली भाषाएँ थीं और इसी पदानुक्रम में मौजूद थीं। ये जनसाधारण के दैनिक व्यवहार की भाषाएँ नहीं थीं लेकिन इनके जानकार पूरे भारत में थोड़ी या बहुत संख्या में मौजूद थे इसलिये इनकी उपस्थिति अखिल भारतीय थी।

दैनिक व्यवहार की भाषा न होने के बावजूद संस्कृत की प्रतिष्ठा भाषिक पदानुक्रम में परम्परागत रूप से प्रथम थी। अरबी इस्लामिक कानूनों और कुरान की भाषा होने के कारण प्रतिष्ठित तो थी लेकिन व्यवहार में सीमित थी। फारसी विभिन्न शिक्षित समुदायों में ज्यादा बड़े पैमाने पर व्यवहार की और बौद्धिक संवाद की भाषा थी। वह समाज के

उच्चतर वर्गों की भाषा थी जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों मौजूद थे। 19वीं सदी के प्रथम अर्धांश में प्रकाशन का आरंभ होने के बाद भारतीय भाषाओं में छपने वाले अखबारों में सबसे अधिक प्रभावशाली संख्या फारसी के अखबारों की थी। इनमें से कोई भी प्रकाशन यद्यपि ज्यादा लम्बे समय तक नहीं चला, 1857 ने स्थिति को बदल दिया लेकिन उसके पहले तक इन अखबारों को देशभर में फारसी की प्रतिष्ठा और उसके पाठकों की संख्या का सूचक चिह्न माना जा सकता है।

### 14.3.1 भाषिक पदानुक्रम में परिवर्तन

19वीं सदी के आरंभ में लेखक या तो संस्कृत फारसी में से किसी एक या दोनों में रचना करता था या फिर अनेक भारतीय भाषाओं में से किसी एक प्रायः ब्रज में या अपनी मातृभाषा में। ब्रजभाषा का विस्तार खासा व्यापक, लगभग अखिल भारतीय था। साहित्य की प्रमुख और परम्परा की दृष्टि से अटूट विधा कविता थी।

भारतीय भाषाओं में तमिल के पास एक लम्बा, लगभग संस्कृत के बराबर प्राचीन इतिहास है। अन्य अपेक्षाकृत नयी भारतीय भाषाओं असमिया, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, मराठी, मलयालम, मैथिली, पंजाबी, उड़िया, तमिल, तेलुगु, और सिन्धी में 18वीं शताब्दी के अन्त तक प्रभूत साहित्य रचा जा चुका था। उर्दू इनमें नवीनतम थी। उर्दू का यौवनकाल था। इन सभी भाषाओं में लिखित साहित्य के साथ साथ मौखिक साहित्य परम्परा भी मौजूद थी। वहाँ ऐसी भी अनेक भाषाएँ थीं जिनमें केवल मौखिक परम्परा में गीत, आख्यान और कविता का प्रभूत साहित्य मौजूद था। यह लोक परम्परा का साहित्य था। शिष्ट साहित्य-परम्परा की धारा के साथ एक पुष्ट और समृद्ध लोक साहित्य परम्परा की धारा भी प्रवहमान थी।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत के वर्चस्व के लिये प्रतिस्पर्धी यूरोपीय समुदायों के बीच भी यूरोपीय संप्रक्र भाषा के रूप में अंग्रेजी स्थापित हो चुकी थी और पुर्तगाली और फ्रेंच भाषाएँ अपने-अपने उपनिवेश तक सीमित रह गयी थीं।

भारत में अंग्रेजी उपनिवेश कायम हो जाने के बाद स्वाभाविक था कि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आजीविका और समृद्धि के उपार्जन का साधन बन जाए। शुरू में कुछ दूरदर्शी व्यक्तिगत प्रयत्नों से और बाद में सरकारी शिक्षा नीति के तहत अंग्रेजी की शिक्षा शुरू हुई।

सरकारी शिक्षा नीति में अंग्रेजी के शामिल होने से अंग्रेजी का प्रचार प्रसार व्यवस्थित और व्यापक हुआ। अंग्रेजी की शिक्षा में सरकारी रुचि का कारण एक ओर राजनैतिक था दूसरी ओर धार्मिक। धर्मगुरुओं और मिशनरी भारत को अंधकार से प्रकाश में लाने के दायित्व का दावा कर रहे थे। मैकाले ने इसे भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ मज़बूत करने का साधन समझा था और अपनी समझ को साबित भी कर दिखाया था। भारतीय पक्ष से राममोहन राय ने नयी पीढ़ी के लिये अंग्रेजी शिक्षा के प्रबन्ध में विशेष रुचि ली थी। इस तरह नवजागरणकाल में अंग्रेजी का परिचय भारतीयों के एक छोटे किन्तु विशिष्ट और प्रभावशाली समुदाय के युवा वर्ग को मिल चुका था और वह इसकी संभावनाओं को समझ चुका था। 19वीं सदी के मध्य तक आते-आते अंग्रेजी ने फारसी को अपदस्थ उसके स्वयं उसकी जगह ले ली थी लेकिन उच्चवर्ग और आम जन की भाषाओं के बीच की दूरी जैसी थी वैसी ही बनी रही।

### 14.3.2 भारतीय भाषाओं का उभार

मैक्समूलर ने भाषा सीखने और उस पर अधिकार पाने की क्षमता में भारतीयों का लोहा माना है। 19वीं सदी के मध्य तक ही उपरोक्त विशिष्ट युवा समुदाय में ऐसे धुरन्धर हो चुके थे जो स्वयं अंग्रेजी को ही अपनी रचना का माध्यम बनाने लायक भाषाधिकार पा चुके थे। बंगाली के माइकेल मधुसूदन दत्त का नाम इसका एक विशेष उदाहरण है। बाकी देशभाषाओं के साहित्य पर भी उसका प्रभाव जबर्दस्त था।

संस्कृत और फारसी के साहित्यिक आदर्श पारम्परिक और मध्यकालीन घोषित कर दिये गये, चाहे उनकी विषयवस्तु कुछ भी रही हो। अंग्रेजी के साहित्यिक नमूने, स्वयं अंग्रेजी में वे चाहे किसी भी काल के क्यों न रहे हों, भारतीय भाषाओं में आधुनिक मान लिये गये। अंग्रेजी के सम्पन्न, प्रभाव, प्रतिक्रिया और प्रतिरोध की अभिव्यक्ति के साथ भारतीय भाषाओं में आधुनिकता के आगमन की पहचान जुड़ी हुई है। जिन भाषाओं का सीधा सम्पन्न अंग्रेजी के साथ नहीं भी हुआ, उनमें भी अंग्रेजी के सम्पन्न में आनेवाली किसी देशी भाषा के सम्पन्न के माध्यम से अंग्रेजी के प्रभावक्षेत्र में शामिल होना आधुनिकता के सूत्रपात की निशानी बन गया। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में अंग्रेजी के छात्रों की पहली पीढ़ी हुई थी और बंगला, मराठी और तमिल, खासकर बँगला सबसे पहले आधुनिककाल में दाखिल होने वाली भाषाएँ थीं। उनके सम्पन्न से अन्य देशी भाषाएँ भी आधुनिकता की ओर अग्रसर हुईं।

नवजागरण की शताब्दी में सामाजिक, राजनीतिक दबावों और युगीन परिवर्तनों ने भारतीय भाषाओं के सामने नयी किस्म की माँगें उत्पन्न कर दीं। राजनीतिक दमन और आर्थिक शोषण के लिये क्षोभ और सन्ताप, राष्ट्रीय चेतना, आत्मालोचन, सामाजिक विघटन के उत्तर में समाज-सुधार आन्दोलनों का आरंभ, परम्परा के साथ लगाव के बावजूद बहस का सूत्रपात और परम्परा व आधुनिकता के बीच द्विविधा का मनोभाव आदि ऐसे ही परिवर्तन थे।

इन परिवर्तनों ने आम जन की भाषाओं को जनजागरण के प्रसार, विदेशी सत्ता के लिये प्रतिरोध के विकास और परम्परा के साथ बहस की एक नयी भूमिका दे दी। नव जागरण काल की अवधि के भीतर तो नहीं, लेकिन फौरन बाद गद्य में लिखित कथा-साहित्य अपनी रोचकता और प्रभावक्षमता के कारण इस भूमिका की लोकप्रिय अभिव्यक्ति का माध्यम बना। कथा का प्रथम साहित्यरूप उपन्यास था।

अंग्रेजी के सम्पन्न से भारतीय साहित्यों में मूल्य-व्यवस्था में भी एक अलग तरह के संकट की शुरुआत हुई। अंग्रेजीशिक्षित समुदाय अपनी मूल्यभावना में बहुसंख्यक जनसमुदाय से दूर होने लगा अंग्रेजी संप्रेषण का सरकारी साधन होने के अलावा एक नयी संस्कृति की वाहिका भी बनी।

साहित्य, विशेषकर कथासाहित्य के अध्ययन में इस मूल्य-परिवर्तन की ओर ध्यान देना जरूरी है। जाहिर है कि नयी भाषा का ज्ञान केवल व्याकरण और शब्दभण्डार का ज्ञान नहीं होता। वह अपने साथ संवेदना और विचार का एक पूरा नया संसार लेकर आता है। आधुनिक साहित्य कथा विशेषतः की मूल्यभावना आदर्श और रुमान की बजाय यथार्थ से अनुशासित होने वाली थी। आधुनिक कथा का कलेवर यथार्थ की बारीकियों के चित्रण से रचित होने वाला था। अतः यथार्थ के प्रति नया दृष्टिकोण और नये साहित्यरूपों का, खास तौर से गद्य-साहित्य में, आविष्कार इस परिवर्तन के साथ जुड़ा था। नवजागरण

काल में इस परिवर्तन के प्रथम चिह्न दिखाई देते हैं, यद्यपि इस युग की कहानी में नहीं। इन नये साहित्यरूपों में उपन्यास और कहानी विशेष लोकप्रिय हुए।

इसके पहले तक देश का शिक्षित जनसमूह या तो एक मृत क्लासिकल भाषा (संस्कृत) से या दूसरी प्रतिष्ठित जीवन्त भाषा (फारसी) से या फिर दोनों ही भाषाओं से परिचित था। इसके अलावा वह मातृभाषा के तौर पर कोई न कोई भारतीय भाषा भी बोलता था। शुद्ध देशी भाषाभाषी दूसरे जनसमूह की भाषाओं के पास साहित्यिक-सांस्कृतिक था परम्परा तो थी लेकिन उसकी भाषाएँ उच्च शिक्षा या प्रशासन या रोजगार का माध्यम नहीं थीं। अंग्रेजी के पदार्पण से संस्कृत, फारसी अप्रासंगिक हो गयीं और देशी भाषाएँ 'वर्नाकुलर' (स्थानीय अमार्जित, अपरिष्कृत भाषाओं का समूह) की हैसियत को पहुँचा दी गयीं।

फारसी की जड़ें इस देश में नहीं थीं, यद्यपि फारसी में शिक्षित पीढ़ी अभी मौजूद थी। अब उसका दायरा सीमित होते होते आगे लुप्त हो जाने वाला था। संस्कृत के प्रेमी हमेशा से ही भाषाद्वेषी थे। भाषा या भाखा का अर्थ आम आदमी की देशी भाषाएँ। भक्तिकाल के दौरान श्रेष्ठ साहित्य की रचना हो चुकने के बावजूद ये संस्कृत के बराबर सम्मान नहीं पा सकी थीं। अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त भारतीय भी इन भाषाओं के प्रति तिरस्कार का भाव विकसित कर चुके थे या उनकी ओर से उदासीन थे। इन भाषाओं की प्रतिभा और शक्ति से, देश के जन और परम्पराओं के साथ उनके सम्बन्ध से, उन में अभिव्यक्त होने वाले समसामयिक भारतीय जन-मन से संस्कृत-फारसी और अंग्रेजी के प्रेमियों में से कोई भी परिचित नहीं था। कुछ गिने चुने अपवाद-रूप व्यक्तियों की बात अलग है। ये अपवाद ही अपनी-अपनी देशभाषा के साहित्य में नवजागरण के सूत्रधार और इतिहासपुरुष बने। आधुनिक भारतीय साहित्य का इतिहास इन्हीं भाषाओं की नयी समृद्धि और विपुलता का इतिहास है।

#### 14.4 मुद्रण का आरंभ और पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार

इस भाषिक परिदृश्य में छापेखाने का प्रवेश हुआ। यह प्रवेश जनवरी 1800 ई. में सेरामपुर (बंगाल) के बैप्टिस्ट मिशन में भारत की विभिन्न भाषाओं में बाइबिल का प्रकाशन करने के उद्देश्य से हुआ था।

आप जानते होंगे कि उत्पादन की कोई भी नयी तकनीक अपने साथ अपना एक बाजार भी लेकर आती है, और अपनी एक कार्यविधि भी। यांत्रिक मुद्रण ने पाण्डुलिपियों को पुस्तक में बदलने के अलावा अपने बाजार के लिये शुरू में समाचारपत्र और आगे चल कर साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ नये उत्पाद की तरह प्रस्तुत किये। अंग्रेजी और लगभग सभी भाषाओं में मिशनरी प्रेस ने आरंभिक अखबार निकाले थे। बंगाली में 1818 ई. में दिग्दर्शन और समाचार दर्पण, 1822 में गुजराती में मुम्बई समाचार, मराठी में 1832 में मराठीदर्पण अपेक्षाकृत शीघ्रतर आरंभ कहे जा सकते हैं। 19वीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर अन्त तक आते आते इन भाषाओं में अन्य अनेक अखबारों की शुरुआत हुई और इनके अलावा असमिया, उड़िया, हिन्दी, कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम, उर्दू भाषाओं में भारतीयों द्वारा प्रकाशित अपने समाचार पत्र और पत्रिकाएँ हो चुके थे और नवजागरण की चेतना के वाहक बनाए जा चुके थे।

सामूहिक संप्रेषण और सूचनाप्रसार की परम्परागत विधियों का रूप और स्वभाव बदलने की तथा नये जनसंचार की यह पहली शुरुआत थी।

जनसंचार संप्रेषण को देशकाल के बन्धन से मुक्त करता है। यांत्रिक मुद्रण या छापाखाना इस मुक्ति की शुरुआत का पहला कदम था। इस बात को समझने की जरूरत है। मनुष्य का अस्तित्व अनिवार्यतः देशकाल की सीमाओं में बँधा होता है अर्थात् वह किसी काल विशेष में किसी स्थान विशेष पर ही मौजूद रह सकता है। सामूहिक संप्रेषण की परम्परागत विधियाँ देशकाल में सीमित थीं क्योंकि वे वाचिक विधियाँ थीं। सीधे शब्दों में कहें तो वक्ता श्रोता का आमने सामने, एक ही स्थान पर होना जरूरी था। यांत्रिक मुद्रण की शुरुआत के बाद पुस्तकें सुलभ हुईं और यह संभव हुआ कि लेखक अपने कमरे में बैठकर लिखी हुई बात को सुदूर पाठक तक पहुँचा सके और पाठक भी अपने कमरे में बैठकर पढ़ते हुए उन दूर देशों की मानसिक यात्रा कर सके जहाँ वह कभी नहीं गया, या वह उस जीवन का अनुभव कर सके जो उसने कभी नहीं जिया। नवजागरण के राष्ट्रीय आन्दोलन के निर्माण और चेतना के प्रसार में इस नये जनसंचार या मीडिया का प्रभाव और योगदान बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला था। मीडिया के सहयोग से नये विकल्पों के चिन्तन-मनन की भागीदारी और परिवर्तन की संभावना दूर तक व्यापक और विस्तृत होती है। आन्दोलन के राजनीतिक पक्ष के अलावा जीवन का सांस्कृतिक पक्ष भी आमूल-चूल मीडिया के दायरे में आया।

ईसाई मिशनरियों की रुचि ईसाई पुस्तिकाएँ और बाइबिल प्रकाशित करने तक सीमित थी। इसलिये साहित्य-रचना पर मिशनरी प्रेस का प्रभाव भी सीमित ही रहा, लेकिन जब प्रकाशकों ने स्वतंत्र रूप से भारतीय साहित्य के प्रकाशन में दिलचस्पी ली तो साहित्य जगत पर मुद्रण के आरंभ का असली प्रभाव प्रकट हुआ। मद्रास वर्नाकुलर ऐण्ड स्कूल बुक पब्लिशिंग सोसायटी (1820) ने संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं के क्लासिक प्रकाशित किये। आगरा का सिकन्दरा प्रेस, सूरत का दुर्गाराम लिथोग्राफी प्रेस, धारवाड़ का सावानुर प्रेस या लखनऊ का नवलकिशोर प्रेस इस सन्दर्भ में ऐतिहासिक महत्व की अग्रणी भूमिका निभाने वाले कहे जा सकते हैं।

## 14.5 वाचिक परम्परा से लिखित-मुद्रित परम्परा में संक्रमण

नवजागरण के दौर का यह आयाम साहित्य के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। साहित्य की माध्यम-भाषा में गद्य की प्रतिष्ठा, संवेदना में भावजगत् से यथार्थजगत् की ओर प्रस्थान, साहित्यरूपों में नये प्रयोगों की शुरुआत के मूल में कुछ अंशों में छापाखाने के आगमन का प्रभाव देखा जा सकता है। उसने भारतीय साहित्य जगत को पहले मन्दगति से, बाद में आमूल बदल दिया।

हस्तलेख द्वारा पाण्डुलिपि निर्माण के युग से मुद्रणविधि से पुस्तक निर्माण में एक युगान्तर समाया हुआ है।

मुद्रण की शुरुआत के पहले तक पाण्डुलिपि निर्माण एक फलता फूलता, विशेषज्ञतापूर्ण व्यवसाय था। इस व्यवसाय में एक बार में एक ही प्रति का निर्माण किया जाता है इसलिये एक-एक प्रति की शुद्धता की रक्षा वैयक्तिक स्तर पर पाण्डुलिपिकार ही कर सकता है। अतः एक ही व्यक्ति द्वारा लिखित होने पर भी प्रत्येक पाण्डुलिपि के दूसरी से भिन्न होने की संभावना बनी रहती थी। पाण्डुलिपियाँ श्रमसाध्य, व्ययसाध्य तथा, समयसाध्य होने के कारण विरल और केवल विशिष्ट जन के लिये ही सुलभ थीं। वे सामान्य पाठक की पहुँच के बाहर थीं।

मुद्रण की तकनीक ने आकर इस दुनिया को बदल दिया। पुस्तकें सामान्य जन के लिये

सुलभ हुई और श्रोता समाज का रूपान्तर पाठक समाज में हुआ। देश के भिन्न-भिन्न भागों में, विशेषतः बड़े शहरों में प्रिंटिंग प्रेस आरंभ हुए लेकिन कुछ भाषिक इलाके खास लम्बे समय तक मुद्रण-प्रकाशन-सुविधा के दायरे के बिल्कुल बाहर रह गये। कुछ इलाकों में मुद्रण की सुविधाएँ काफी देर से आई बीसवीं सदी के प्रथम दशक में। बहुत से इलाकों में साक्षरता की नीची दर के कारण या फिर द्विभाषी क्षेत्रों में भाषा के सामाजिक पदानुक्रम के कारण छापाखाना लगाना आर्थिक स्तर पर लाभप्रद नहीं था। वहाँ पाण्डुलिपि निर्माण की परम्परा चलती रही। उदाहरण के लिये राजस्थानी या मैथिली के पाठक हिन्दी में भी निष्णात थे और उनकी वर्णमाला भी देवनागरी की थी तो हिन्दी के छापाखाने से उनका काम चल जाता था। जिन भाषाओं में पाठक-संख्या सीमित थी उनमें छापा शुरू करने की बात कोई प्रकाशक नहीं सोचता था इसलिये अनेक भाषाओं में मुद्रण के विकास में देर हुई। 19वीं सदी के प्रथमार्द्ध में मुद्रण-प्रकाशन के दायरे में एक विशाल इलाका आ चुका था। संप्रेषण के पुराने तरीके बिना किसी प्रतिरोध के ग्रामीण इलाकों की ओर सिमटने लगे थे और उन जन समूहों के बीच बने रह गये थे जहाँ लोगों के पास पढ़ने-लिखने का ज्ञान नहीं था।

आधुनिक कहानी का जन्म पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ और पत्र-पत्रिकाओं का जन्म मुद्रण के साथ जुड़ा हुआ है। देशी भाषाओं में आधुनिक कहानी के आरंभ में देर सबेर इस बात से जुड़ी है कि किस भाषा में कब किसी भारतीय प्रकाशक के स्वामित्व में छापाखाना लगा और उससे पत्रिका का प्रकाशन शुरू हुआ।

#### 14.5.1 संक्रमण का विराट सांस्कृतिक आयाम

इस बात पर अभी तक पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में मुद्रण-प्रकाशन का आरंभ कितनी बड़ी और महत्वपूर्ण परिघटना है। यह साहित्यिक रचना और संप्रेषण की प्रक्रिया का कायाकल्प था, कोई मामूली बात नहीं थी, एक सांस्कृतिक युगान्तर था। शुरू शुरू में सामान्य (अपढ़) जनता ने इसका स्वागत नहीं किया।

पाण्डुलिपियों के काल में पुस्तक एक दुर्लभ और बहुमूल्य वस्तु थी। पढ़े-लिखे श्रोता को भी लिखन्त तक पहुँचने के लिये विशेषतः प्रशिक्षित व्यावसायिक कथावाचक और उपदेशक या प्रवचनकार पर निर्भर करना पड़ता था। यह सामूहिक संप्रेषण की स्थिति होती थी और साधारणीकरण तथा रसानुभूति की ओर अधिक उन्मुख हुआ करती थी। मुद्रित किताबों की उपलब्धता ने श्रोता को पाठक में बदल दिया। यह स्थिति पाठकों की एक बृहत्तर संख्या को निजी एकान्त में रचना का आनन्द उठाने का मौका और मौन पाठ को बढ़ावा देती थीं।

भारत सदियों से वाचिक या मौखिक परम्परा का देश रह चुका था। यहाँ अपढ़ होने का अर्थ अशिक्षित होना नहीं था। विद्वानों की एक कोटि बहुश्रुत भी कही जाती थी यानी जिन्होंने बहुत कुछ सुन कर ज्ञान पाया था। यहाँ "मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ" की घोषणा करने वाला कबीर होने की संभावना रख सकता था।

मौखिक परम्परा के साथ वाचक, व्याख्याता, भाष्यकर्ता आदि अनेक भूमिकाएँ और संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र आदि प्रदर्शनीय कलाएँ जुड़ी हुई थीं। इसका उद्देश्य जनता के सभी समूहों को सम्बोधित करना था और वह इसमें समर्थ भी थी। बृहत् जनसमूह के लिये छपी हुई लिखन्त का लाभ सीमित ही था। छपे हुए शब्द की संभावनाओं का आविष्कार करने वाले शिक्षित मध्यवर्ग का और उसकी रुचि को सम्बोधित करनेवाले एक नये साहित्य का

उद्भव और विकास मन्दगति से हो रहा था। इस सन्दर्भ में उड़िया साहित्य के विषय में मायाधर मानसिंह की टिप्पणी देखने योग्य है।

प्राचीन उड़िया साहित्य ने उड़िया मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति के रूप में एक अप्रतिम भूमिका निभाई थी। उसने उड़ीसा के 50,000 गाँवों को संगीत, काव्यपाठ, नुक्कड़ नाटकों, कविता प्रतियोगिताओं और साहित्य चर्चाओं से गुंजायमान रखा था। उसने स्त्रीजन समेत समूचे उड़िया समाज को साहित्य-सजग बनाया था। आधुनिक शिक्षापद्धति या यूरोपीय नमूनों के अनुकरण पर आग्रहीत आधुनिक साहित्य या छापेखाने और डाक-सेवा से लैस नये लेखकों के लिये यह कोई अभिमान का विषय नहीं है कि अभी तक वे जनसमूह पर ऐसा कोई गहरा प्रभाव डालने में असमर्थ रहे हैं जैसा कि ताड़-पत्रों पर लोहे की सूई से मशकत के साथ लिखा और प्रचार के सीमित साधनों से बँधा हुआ प्राचीन उड़िया साहित्य डालने में समर्थ हुआ था। (साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर' खण्ड 8 में शिशिरकुमार दास द्वारा उद्धृत)

इस कथन को सारी भारतीय भाषाओं के नवजागरणकालीन साहित्य के विषय में सत्य माना जा सकता है।

मौखिक परम्परा की पिछली शताब्दियों में भी शिष्ट साहित्य और लोकसाहित्य के बीच अन्तर हुआ करता था लेकिन प्रस्तुति की विधियाँ एक समान थीं। लिखित साहित्य की प्रस्तुति मौखिक होती थी जिसमें पढ़-अपढ़ सभी शामिल होने में समर्थ थे और श्रोता अपनी रुचि के परिष्कार से शिष्ट और लोक के बीच आवाजाही करने में समर्थ हो सकता था। मुद्रण के प्रवेश से प्रस्तुति की पिछली विधियाँ संकटग्रस्त और क्षयमान होते हुए धीरे धीरे लुप्त हो गयीं।

पूरे भारत में मौखिक परम्परा के साथ पाण्डुलिपि निर्माण, कथावाचक, उपदेशक, प्रवचनकार जैसे व्यवसायों के अलावा भी अनेक कलाओं से जुड़े हुए विभिन्न व्यवसाय और व्यवसायिक लोग थे। वे संगीत और नृत्य की संगत में कवितापाठ, काव्योच्चार, काव्यगान आदि व्यवसायों में संलग्न थे। वे देश के अलग-अलग भागों में अलग-अलग नामों से जाने जाते थे, कथक, भाट, चारण, कीर्तनिया, लावनीकार, ओझापाली इत्यादि। स्थानीय राजा, जमीन्दार, अमीर व्यापारी और किसान, धार्मिक सम्प्रदाय, संस्थान और कुछ मामलों में स्वयं ग्रामवासी उनको संरक्षण प्रदान करते थे। वे जन समुदाय के सामने धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के साहित्यों को पढ़ते, समझाते और पाठ का भाष्य भी करते थे। कविता का पाठ सार्वजनिक समारोह में प्रस्तुत किया जाता था। अतः मन्दिर के प्रांगण में या गाँव के किसी सार्वजनिक स्थान पर, नदी किनारे या किसी समृद्ध संरक्षक के घर में सारा गाँव-समाज जुटता था। इस किस्म के कार्यक्रम प्रायः किन्हीं खास अवसरों और त्यौहारों पर शाम से लेकर रात तक हुआ करते थे। कभी कभी वे कई दिनों तक, सप्ताहों तक भी चला करते थे।

उस लुप्त परम्परा के विषय में कुछ विवरण और उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहे हैं जो नवजागरण के आकलन और आधुनिकता के मूल्यांकन की दृष्टि से आपके लिये रोचक और लाभकर होंगे और आप समझ सकेंगी/सकेंगे कि हमने क्या खोकर क्या पाया है।

उर्दूभाषी समाज में काव्यपाठ का परिष्कृत रूप मुशायरा बन कर उदित हुआ। शम्स-ए-महफिल मुशायरे की एक खूबसूरत रस्म है। काव्यपाठ करने वाले शायर के सामने उसकी बारी आने पर महफिल की शमा रख दी जाती है। इस तरह बारी बारी से

घूमते हुए वह अन्त में सट्रे—मुशायरा या सभाध्यक्ष के सामने पहुँचती है जिनके काव्यपाठ से मुशायरा खत्म होता है। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक मुशायरा एक पूरी तरह से जीवन्त और सबल परम्परा थी। आज भी यह जारी है।

हिन्दू राजाओं के दरबारों में कवियों को संरक्षण मिलता था और काव्यपाठ और कविता—प्रतियोगिता जैसी गतिविधियाँ होती थीं। ग्रामीण और शहरी इलाकों में भी कथावाचक, व्यावसायिक गायक और कवि साधारण जन का मनोरंजन करते थे। हिन्दीभाषी इलाकों में समस्यापूर्ति एक लोकप्रिय मनोविनोद हुआ करता था जिसमें भागीदार प्रतियोगियों को कविता की एक, प्रायः अन्तिम, पंक्ति दी जाती थी। उन्हें दी गयी पंक्ति का सन्दर्भ रचते हुए छन्द के अनुसार शेष पंक्तियों की संख्या पूरी करके कविता बनानी होती थी। बंगाल में कोबिर लाड़ाई अर्थात् कवियों की लड़ाई या मुकाबला हुआ करता था। इसमें दो या दो से अधिक कवि—दल कविता में टक्कर लेते थे। दल का एक नेता—कवि होता था। कार्यक्रम किसी समृद्ध काव्यप्रेमी संरक्षक के आँगन या किसी उत्सव के दौरान सार्वजनिक स्थल पर होता था। दोनों पक्षों को किसी निश्चित वस्तु पर एक दूसरे का विरोधी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए आशु काव्यरचना करनी होती थी। कभी कभी एक दल एक समस्या सामने रख कर दूसरे दल को समाधान की चुनौती देता था। उनमें से अनेक कवियों की छवि दाड़ाकोबी (खड़ा कवि) की थी जिससे प्रतीत होता है कि उनमें खड़े—खड़े रच देने (तत्काल—रचना या आशु—रचना) की क्षमता होती थी। श्रोता—समुदाय के आगे कविता किसी संस्कार या संस्कार के अंश की तरह (जैसे विवाह में बराती—घराती का मुकाबला), प्रस्तुति की तरह, काव्यक्रीड़ा की तरह और अक्सर वाचिक कलाबाजी की तरह पेश की जाती थी और जीवन की दैनिकचर्या का अंग हुआ करती थी।

तेलुगुभाषी संसार में अवधानम (ध्यान) नामक दो प्रकार के विशिष्ट परम्परागत काव्य—विनोद—कार्यक्रमों की चर्चा मिलती है जो उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक प्रचलित थे। अवधानी (प्रस्तुतकर्ता कवि) में आशु काव्य—सृजन की स्वतःस्फूर्त क्षमता, विलक्षण स्मृति, सुरीला कण्ठ, उपायकुशलता, विदग्धता, ज्ञान—वैविध्य और परिहास—बुद्धि जरूरी गिण थे। अवधानी के रूप में और अवधान के कार्यक्रमों में वही चमक सकता था जिसे प्रकृति ने ही ये उपहार दिये। कहा गया है कि शतावधानम नामक कार्यक्रम में सौ लोग अवधानी को घेर कर बैठते थे, और प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष वस्तु पर, विशेष छन्द में कविता की फरमाइश करता था। फिर अवधानी सौ कविताओं की पहली पंक्ति उपस्थित सौ लोगों को एक के बाद एक लिखवाता था। उसके बाद क्रमशः दूसरी, तीसरी और चौथी। उसके बाद वह एक एक करके सौ के सौ छन्द अपनी स्मृति से सुनाता था। अष्टावधान नामक कार्यक्रम में आठ विद्वान अवधानी को विभिन्न शर्तों के साथ विभिन्न छन्दों में विभिन्न विषयों पर कविता लिखने के लिये देते थे। शर्तों में हो सकता था कि कोई किसी ध्वनि का प्रयोग वर्जित कर दे, कोई किसी विशेष छन्द का निश्चय कर दे, कोई पहली का समाधान माँग ले, कोई बिल्कुल अप्रासंगिक सवाल पूछ ले, कोई और घण्टा बजा दे और कवि को घण्टा—ध्वनि की गिनती बता सकना चाहिये। ये सारे काम कवि का ध्यान बँटाने और उसकी स्मृति की, छन्द पर अधिकार की, और विचित्र व प्रतिकूल परिस्थितियों में छन्द रचने की क्षमता की परीक्षा के लिये एक साथ किये जाते थे। इन कार्यक्रमों को लोग अतिशय मनोरंजक और कवि अत्यंत चुनौतीपूर्ण पाते थे।

वाचिक परम्परा में कहानी की भी अपनी महत्त्वपूर्ण जगह थी। उर्दू में किस्सागोई एक पूर्ण विकसित कला और आजीविका थी। राजस्थान के चारण कविता और कहानी दोनों

सुनाया करते थे और नाटकीयता उनके वाचन का विशेष गुण थी। अभी हाल तक यह परम्परा चलती आई है। दस-दस हजार तक की संख्या में समुदाय रात-रात भर बैठ कर कहानी सुनता है। विजयदान देथा उस परम्परा के आधुनिक कथाकार रह चुके हैं। 'त्वातौरी फुलवारी' नामक अनेक खण्डों वाली ग्रन्थशृंखला में उन्होंने उस कथापरम्परा को संचित किया है।

छापे का प्रसार हुआ, पुस्तकें सहजता से उपलब्ध होने लगीं, एक नया मध्यवर्ग विकसित हुआ, सामन्ती अभिजन द्वारा मिलने वाले संरक्षण में क्रमशः ह्यास, फिर लोप हुआ और साहित्यिक अभिरुचियों में परिवर्तन आने लगा। इन सब बातों ने स्थितियों को बदलना शुरू किया। शुरू में बदलाव की गति बहुत धीमी थी और अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त समुदायों के बीच उभरते हुए साहित्य पर ही उसकी छाप दिखनी शुरू हुई थी।

भारत के विभिन्न भाषाभाषी साहित्यों में आधुनिकता के विकास की गति विषम रही। इस विषमता की आंशिक व्याख्या इस तरह की जा सकती है कि जो क्षेत्र अंग्रेजी प्रभाव के अधीन हुए, जहाँ छापेखाने स्थापित हुए तथा पुस्तक उपलब्ध हुई उनमें पुरानी रचनात्मक साहित्यिक संस्कृति का ह्यास त्वरित हुआ। लेकिन जिन क्षेत्रों में पारम्परिक मूल्य अभी सबल थे, संगीत और नृत्य जैसी कलाएँ अपने परम्परागत रूपों का सख्ती से अनुगमन कर ही थीं, और राजसिक-सामन्ती संरक्षण उपलब्ध था वहाँ इस प्रकार की साहित्यिक क्रीड़ाएँ लोकप्रिय बनी रहीं।

मुद्रित साहित्य का पठन-पाठन दो विशेष बातों पर निर्भर था। एक तो इसके लिये साक्षरता का विकास जरूरी था और दूसरे सामाजिक जीवन में आधुनिक भारतीय भाषाओं के लिये सम्मान में वृद्धि की जरूरत थी। भारतीय समाज के भाषिक पदानुक्रम में तब तक आधुनिक भारतीय भाषाओं की स्थिति सबसे नीची थी। तत्समप्रेमी संस्कृत और फारसी वाले इन भाषाओं के साहित्य को ग्राम्य अतः गंभीरतापूर्वक लेने के अयोग्य मानते थे। नये नये अंग्रेजीदाँ पाठक भी भारतीय साहित्यों के लिये तत्समवादियों की इस हिकारत में साझीदार थे।

#### 14.5.2 नया पाठक समुदाय

पाठक समुदाय में परिवर्तन भी अनिवार्य था। नये पाठक समाज का उभार हुआ। श्रोता का पाठक में बदलना इसका एक पक्ष था और निरक्षर जनता का साहित्य से अलग हो जाना दूसरा पक्ष था। अधिसंख्य जनता निरक्षर ही थी और उसके लिये मुद्रित साहित्य किसी काम का नहीं था।

पाठक समाज दो हिस्सों में बँटा था— उच्च पाठक समाज और सामान्य पाठक समाज।

संख्याबहुलता की दृष्टि से दूसरे पाठक वर्ग को साधना बाजार के हित में होता अतः हलकी-सस्ती रुचि की उत्तेजनापूर्ण कहानियों में रुचि रखनेवाले सामान्य पाठक समुदाय की माँग को तृप्त करने वाला 'पॉप साहित्य' भी तेजी से बढ़ा। मुद्रकों और प्रकाशकों ने प्रभूत राशि में ऐसी सामग्री का उत्पादन किया जिसका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं था और जो केवल मजा लेनेवाली पाठकीय वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये थी, जैसे तिलिस्मी ऐयारी की कथावस्तु वाले तथा सनसनीखेज जासूसी उपन्यास। इस किस्म की अधिकतर सामग्री कुछ वर्षों की लोकप्रियता के बाद लुप्त हो जाया करती थी और उतनी ही हल्की और सस्ती किस्म किन्तु तात्कालिक आकर्षणवाली कोई और सामग्री उसकी जगह ले लेती थी।

सामान्यतः इस समुदाय के पास न किसी क्लासिकल भाषा का ज्ञान था, न अंग्रेजी की शिक्षा थी, यह केवल किसी भारतीय भाषा में शिक्षित हुआ था। संख्या की दृष्टि से यह पाठक समुदाय सबसे बड़ा था।

यह समुदाय अपनी मातृभाषा या किसी भारतीय भाषा के लेखक का पाठक था। इन भाषाओं के लेखकों के मन में पाठक समुदाय में नये साहित्य में रुचि उत्पन्न करने की इच्छा थी और कन्धों पर उसके निर्वाह का दायित्व था। वे लिख भी रहे थे और अपने लेखन से पाठक समाज का निर्माण भी कर रहे थे। यही नवजागरणकाल का अपना लेखक और पाठक समुदाय था।

इन लेखकों और पत्रकारों ने पहली बार भारतीय साहित्यिक इतिहास में स्त्री-पाठक-समुदाय के महत्त्व को पहचाना। पूर्णतः स्त्रियों को सम्बोधित अनेक पत्रिकाएँ भी निकाली गयीं और मुख्यतः स्त्रियों के लिये लिखित पुस्तकें इस बात का प्रमाण हैं कि इस सदी के अनेक लेखकों ने सचेत प्रयास से स्त्री पाठक के पास पहुँचने का प्रयास किया। स्त्री-पाठक-समुदाय की संख्या में वृद्धि का साहित्य के उत्पादन पर गहरा प्रभाव पड़ा। पहली बार भारतीय लेखक एक गण्य स्त्री-पाठक समुदाय के प्रति सचेत हुए और उनकी समस्याओं को साहित्य का विषय बनाने की ओर उन्मुख हुए। उदाहरण के लिये बंगाली के लेखक बंकिमचंद्र चटर्जी जो अठारहवीं सदी के कुछ ब्रिटिश लेखकों के व्यवहार का अनुगमन करते हुए प्रायः अपने वृत्तान्त के बीच 'कोमलहृदय पाठक' अर्थात् स्त्री पाठक समुदाय को सम्बोधित करते हैं।

### 14.5.3 निज-भाषा उन्नति

संस्कृत-फारसी प्रेमी समुदाय हों या अंग्रेजी प्रेमी इन दोनों ही समुदायों को भारतीय भाषाओं और साहित्यों की सामाजिक उपयोगिता और कलात्मक संभावनाओं पर विश्वास दिलाना उन्नीसवीं सदी के भारतीय भाषाओं के लेखक के लिये टेढ़ी खीर था। उसे सख्त प्रतिरोध के समक्ष अपने लिये एक सम्मानपूर्ण जगह बनानी थी। इसीलिये इतनी सारी भारतीय भाषाओं में मातृभाषा की प्रशंसा में गीत और कविताओं की रचना हुई जो क्रमशः उन्नीसवीं और आरंभिक बीसवीं सदी में रचित देशभक्ति के साहित्य का अंग बनी। मातृभाषा पर अभिमान लेखक-पाठक-सम्बन्ध के विकास का जरूरी तत्त्व बना। अंग्रेजी परस्त वर्गों के विरुद्ध व्यंग्य और उपहासपूर्ण लेखन का एक फोकस उनमें मातृभाषा के प्रति सम्मान के अभाव पर भी है। उन्नीसवीं सदी का भारतीय-भाषा-लेखक अन्ततः अंग्रेजी-परस्त वर्ग के साथ फारसीदाँ और संस्कृत प्रेमी वर्गों को भी भारतीय साहित्य की पाठकवृत्ति की मुख्यधारा में शामिल होने के लिये राजी करने में समर्थ हुआ। परिस्थितियाँ उसके पक्ष में थीं।

### 14.6 मुद्रित परम्परा में कहानी

नवजागरण ने संवेदना में जो कायाकल्प किया था उसकी अभिव्यक्ति सभी काव्यरूपों में प्रकट हुई थी लेकिन कविता और नाटक परम्परा में पहले से मौजूद काव्यरूप थे। परम्परा की कड़ियाँ वहाँ ज्यादा मजबूत थीं और नवजागरण के समय में नयी संवेदना की अभिव्यक्ति पौराणिक कथाओं और चरित्रों को ही एक प्रतीकात्मक रूपकीय आयाम देकर प्रकट हो रही थी। परम्परा तो गद्य की भी पहले से मौजूद थी लेकिन वह अपेक्षाकृत विरल थी और उसने साहित्यिक अभिव्यक्ति की परिपक्वता विकसित नहीं की थी।

### 14.6.1 परम्परागत कहानी के अवशेष

छापे की शुरुआत का मतलब यह नहीं कि वाचिक परम्परा की कहानियाँ रातोंरात गुम हो गयीं। वे भी चलती रहीं। वाचिक परम्परा के लोक-कथारूपों का मुद्रण भी किया गया। कहा जा चुका है कि संस्कृत की उपस्थिति अखिल भारतीय थी और देशी भाषाओं ने रामायण, महाभारत, उपनिषद्, पुराण की कहानियाँ सामूहिक अवचेतन की तरह उत्तराधिकार में पाई थीं। शुरु-शुरु में पुस्तक के बाजार की आपूर्ति श्रव्य परम्परा की प्रख्यात तथा पौराणिक मिथकीय कथाओं को छापकर की गयी थी। उनकी आवृत्तियाँ और पुनरावृत्तियाँ चलती रहीं जैसे तमिल में 'तिराविटा मत्तियेकालक कतैकल' (1897) मरियतैरमनकतै (1987) मौखिक परम्परा की कहानियों के संकलन है, या कन्नड़ में एक प्रेमकथा . हेमलते प्रभाकर (1904) या तेलुगु में मनोरंजक कथाओं का संकलन श्विनोदकथामंजरी (1904) या उर्दू में सलीम-वा-मेहरुन्सिसा (1897)। उत्तरभारत की भाषाओं में, हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में खास तौर से, किस्सागोई की फारसी परम्परा से आई हुई साहसिक व चामत्कारिक दास्तानें भी शामिल थीं। जैसे दास्ताने-मीर हमजा, किस्सा हातिमताई, गुलबकावली आदि।

### 14.6.2 आधुनिक कहानी में युगान्तर का चिह्न

नवजागरणकाल तक भी सामान्यतः प्रचलित कहानी में मिथकीय, साहसिक और चमत्कारिक प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं क्योंकि सुनी-सुनाई जाने वाली कहानी में ध्यान को बाँधे रखने में ये गुण बहुत कारगर होते हैं। संचार की नयी टेक्नीक के रूप में मुद्रण के आरंभ ने धीरे धीरे सुनने की बजाय पढ़ने की संस्कृति का आरंभ किया। माना जा चुका है कि जब जब साहित्य-रचना के संसार में नयी टेक्नॉलॉजी का प्रवेश होता है तब तब रचना की तकनीक अर्थात् शिल्पविधि में भी अन्तर आता है। साहित्यजगत में साहित्यकार और उसके पाठक समुदाय के बीच संप्रेषण के रिश्ते में प्रिंटिंग-प्रेस अथवा मुद्रण की तकनीक के आगमन से क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। कहानी के विकास में भी यह सत्य देखा जा सकता है।

नवजागरण की परिस्थितियों ने संवेदनाओं में रूपान्तर लाकर एक नया पाठक समुदाय बनाया था, उसके लिये मिथकीय, साहसिक और चमत्कार कथाओं की संभावनाएँ शेष हो चुकी थीं। कथासाहित्य के नये रूपाकार की तरह उपन्यास स्थापित हो चुका था। उसने यथार्थ की रचनात्मक संभावनाओं का आविष्कार किया था। आधुनिक कहानी का जन्म भी पत्र-पत्रिकाओं की आवश्यकताओं से संदर्भित कथारचना में यथार्थ की प्यास के साथ जुड़ा हुआ है।

इसी दृष्टि से आधुनिक कथा साहित्य को मुद्रित परम्परा का प्रथम साहित्यरूप कहा जा सकता है कि जनसाधारण से उठाए गये पात्र और यथार्थ के चित्रण से रचे गये ब्यौरे कथा साहित्य को पहले-पहल ऐसा साहित्यरूप बनाते हैं जो श्रव्य परम्परा से बिल्कुल अलग है और जिसे पढ़कर ही पाया जा सकता है।

संसार भर की भाषाओं में आधुनिक कहानी के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा हाथ है, भारतीय भाषाओं में भी। जिन भाषाओं में छापाखाना देर से पहुँचा, पत्र और पत्रिकाएँ देर से प्रकाशित होना शुरू हुए, उनमें कहानी का जन्म भी देर से हुआ। जिन भाषाओं में कहानी सबसे पहले प्रकट हुई। उड़िया और बंगाली, उनमें स्वतंत्र छापाखाना भी सबसे पहले शुरू हुआ था।

## 14.7 विविध भारतीय भाषाओं में आधुनिक कहानी का सूत्रपात

साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित नवजागरण के साहित्यिक इतिहास में शिशिर कुमार दास दर्ज करते हैं कि 1800 – 1885 ई. के दौरान प्रकाशित कहानी संग्रहों में अधिकांशतः कथा, आख्यान, उपाख्यान, अफसाना, दास्तान आदि संज्ञाओं के स्थान पर कहानी की नयी पहचान को चिह्नित करने वाली संज्ञाओं का आविर्भाव हो चुका था जो इस बात का सबूत माना जा सकता है कि इस समय के लेखकों में अपनी रचना को पुरानी परम्परा से अलग पहचान देने की इच्छा जाग चुकी थी—छुटीगल्प (असमिया), छोटागल्प (बंगाली), तुंकी वार्ता (गुजराती), सण्णा कथे (कन्नड़), चेरुकथा (मलयालम), लघुकथा (मराठी), क्षुद्रगल्प (उड़िया), निक्की कहानी (पंजाबी), शिरुकताई (तमिल), कथनिका (तेलुगु)।

### 14.7.1 पहली कहानी

1868 में लिखित फकीरमोहन सेनापति की 'उत्कल दीपिका' नामक पत्रिका में प्रकाशित 'लछमिनिया' नामक कहानी को शायद पहली आधुनिक भारतीय कहानी होने का संदिग्ध श्रेय दिया जा सकता है। शायद और संदिग्ध कहने का कारण यह है कि तारीख की दृष्टि से कहानीपन का आभास देने वाला पहला गद्यखण्ड होने के बावजूद इसे उड़िया भाषा में भी पहली कहानी होने का श्रेय प्राप्त नहीं है। फकीरमोहन सेनापति की ही 'रेबती' नामक कहानी को उड़िया की पहली कहानी माना जाता है लेकिन उसका रचनाकाल 1896 है। कहानी उसके पहले-पहले अन्य कई भाषाओं में प्रकट हो चुकी थी।

कालक्रम में अगली प्रथम तारीखें गुजराती और मराठी कहानी की हैं। मराठी में ज्ञान प्रसारक (1850) नामक पत्रिका में प्रकाशित उपदेश कथाओं को आधुनिक मराठी कहानी का आरंभ कहा जा सकता है। गुजराती में भी दलपत राम द्वारा लिखित कई कहानियाँ 'बैदिनी मुलाकातनू' (1856) में संकलित हैं। लेकिन वस्तुतः इनको लिखित और प्रकाशित कथात्मक गद्य के आरंभिक नमूने ही माना जा सकता है। मराठी की मनोरंजन आणि निबन्ध चंद्रिका में प्रकाशित एक मांजराचे शाहाणपण (1888) को और गुजराती में तारीखबोध (1870), दैवज्ञ दर्पण (1872) और गुजराथान केत्ताक प्रसंग अने वार्तो नामक संग्रहों में संकलित दलपतराम की कहानियाँ भी ऐसे ही नमूनों के अन्तर्गत आती हैं। इनमें कहानीपन का कुछ आभास मौजूद है। किन्तु वस्तुतः मराठी में हरिनारायण आपटे के सम्पादन में करमाणूक (1890) नामक पत्रिका तथा गुजराती में अम्बालाल शंकरलाल देसाई की कहानी शान्तिदास (1900) के प्रकाशन के पहले तक आधुनिक कहानी का रूप प्रकट नहीं हुआ था।

1873 में 'बंगदर्शन' नामक पत्रिका में पूर्णचन्द्र चट्टोपाध्याय की कहानी 'मधुमती' प्रकाशित हुई थी। बंगदर्शन के संपादक बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय थे। नायिका के स्मृतिलोप का रुमानी कथानक है। तारीख के हिसाब से ही तय करना हो तो इसे पहली कहानी के पद के लिये इसे प्रस्तावित किया जा सकता है। युवा रवीन्द्रनाथ की भी एक भावुक कहानी 1877 में प्रकाशित हुई थी किन्तु यदि पिछली वाचिक परम्परा से स्वतंत्र आधुनिक कहानी को यथार्थ के प्रति आग्रह के लक्षण से परिभाषित किया जाय तो आलोचकों के अनुसार बंगाली में कहानी का समुचित रूप 1891 में जाकर प्रकट हुआ जब हताब्दी नामक नयी-नयी स्थापित पत्रिका में एक के बाद एक छः अंकों में रवीन्द्रनाथ की छः कहानियाँ लगातार प्रकाशित हुईं।

इस तलाश में नवीनतम संशोधन सन 1871 में रेवरेंड जे. न्यूटन द्वारा लिखित 'एक जमींदार का दृष्टान्त' नामक कहानी की प्राप्ति से हुआ है जो संभवतः इस कारण अनदेखी रह गयी कि वह एक ईसाई धर्मप्रचारक की पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुई थी। इसमें किसान के साथ जमींदार के व्यवहार का कथानक है। सच है कि इसके साथ कोई परम्परा शुरू नहीं होती और निरन्तरता की अनुपस्थिति में यह एक अलग थलग घटना ही कही जा सकती है किन्तु यथार्थवादी विषयवस्तु और भाषा के कारण अन्य प्रस्तावित कहानियों की तुलना में इसे आधुनिक कहानी के सर्वाधिक निकट माना जा सकता है।

इस कहानी की प्राप्ति इस वैचारिक संभावना के द्वार भी खोलती है कि साहित्य का इतिहास लिखने के क्रम में तारीख के हिसाब से प्रथम रचना की तलाश का उपक्रम एक व्यर्थ का व्यायाम है। अन्तिम रूप से यह दावा किया ही नहीं जा सकता कि हर पत्र-पत्रिका, हर पुस्तिका छानकर कोई रचना असंदिग्ध भाव से प्रथम के पद के लिये प्रस्तावित की जा रही है। मोटे तौर पर वह कालखण्ड ही अंकित किया जा सकता है जिसमें स्थितियाँ, प्रवृत्तियाँ और रुझान मिल कर उस वातावरण को सघन एकाग्र त्वरा की ओर ले जाती हैं जिसमें कोई साहित्यरूप, कोई विशेष संवेदना आगे पीछे प्रकट होती है और यह मात्र एक संयोग होता है कि 'सबसे पहले कौन', जो कभी दर्ज होता है, कभी दर्ज होने से रह जाता है। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय साहित्य का इतिहास' खण्ड से ग्रहीत निम्नलिखित सूचनाओं से स्पष्ट हो जाएगा कि आधुनिक भारतीय कहानी का वास्तविक आरंभ 1890 से लेकर 1900 के प्रथम दशक के बीच थोड़ा आगे पीछे अनेक भारतीय भाषाओं में हुआ।

हिन्दी में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पहले-पहल की कहानियों का जिक्र करते हुए सरस्वती में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा लिखित इन्दुमती (1900) और गुलबहार, भगवानदास द्वारा लिखित प्लेग की चुड़ैल (1902) आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित ग्यारह वर्ष का समय (1903), गिरिजादत्त वाजपेयी की पण्डित और पण्डितानी (1903), बंगमहिला की दुलाईवाली (1907) का नाम लिया है। 'इन्दुमती' की मौलिकता सन्दिग्ध है। एक नाम 1901 में 'छत्तीसगढ़ मित्र' में प्रकाशित 'माधवराव सप्रे' द्वारा लिखित 'टोकरी भर मिट्टी' का भी है, लेकिन वह घटनावृत्तान्त की कोटि में ही रह जाती है। यथार्थ के प्रति आग्रह की संवेदना और संरचना को ध्यान में रखें तो कसौटी पर खरी उतरनेवाली कहानी दुलाईवाली ही है।

मलयालम में कुंजीरमन नायनार द्वारा लिखित 'वासनाविकृति' नामक कहानी 'विद्याविनोदिनी' नामक पत्रिका में 1891 में प्रकाशित हुई। मराठी में हरिनारायण आपटे का 'स्फुट गोष्ठी' नामक संकलन 1889 में छपा। 1890 में उन्होंने 'करमाणूक' नामक कहानी-पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया।

उर्दू कहानी का जन्म प्रेमचंद और उनके समकालीन सज्जाद हैदर यलदरम तथा नियाज फतेहपुरी के लेखन से हुआ। प्रेमचंद का पहला संग्रह 1908 में छपा।

कन्नड़ में एक विशिष्ट साहित्यरूप की तरह कहानी का वास्तविक आरंभ 1911 में 'मधुरवाणी' नामक पत्रिका में मास्ती वेंकटेश आयंगर की पहली कहानी के प्रकाशन के साथ होता है हालाँकि इसके पहले 'सुहासिनी' नामक पत्रिका में पांजे मंगेशराव द्वारा लिखित 'भारत-श्रवण' और 'कमलपुरढड़ा होटलीनल्ली' प्रकाशित हो चुके थे।

तमिल भाषा में वी.वी.एस अय्यर के मणिकायरकर्षियिन कातल नामक कहानी-संकलन (1915-17 के बीच कभी) के प्रकाशन के साथ कहानी का आरंभ माना जाता है।

तेलुगु में प्रथम कहानी के लेखन का श्रेय गुरजदा अप्पाराव और कभी अचिन्त वेंकट सांख्यायन सरमा को दिया जाता रहा है। तेलुगु में कहानी की वास्तविक प्रगति 1920 के बाद ही हुई।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि 1870-80 के दशक में हिचकती सी छिटपुट शुरुआत के बाद भारतीय कहानी 1890-1900 के दशक में बंगाली में रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रतिभा के स्पर्श से से एक प्रतिष्ठित साहित्यरूप में स्थापित हुई। तब से लेकर बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक आसामी, गुजराती, हिन्दी, कन्न, मराठी और उडिया भाषाओं के लेखक भी इसकी ओर आकृष्ट हुए लेकिन अखिल भारतीय साहित्यरूप बनने में इसे अभी और दो दशक लगने बाकी थे।

### 14.7.2 कुछ सामान्य निष्कर्ष

सभी भाषाओं में कहानी के सूत्रपात और विकास में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण है। इस सूत्रपात में दो दशकों की कालावधि में आगे-पीछे का अन्तर उस भाषा में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की शुरुआत के साथ जुड़ा हुआ है। कहानी के विकास में योग देनेवाली नवजागरण काल की कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाएँ, बंगाली में हिताब्दी और साधना(1892), हिन्दी में सरस्वती(1900), गुजराती में ज्ञानसुधा (1886) और पूर्णतः कहानी को निवेदित पत्रिका विद्यावारिधि (1899), कन्नड़ में सुभाषिणी(1900)मलयालम में विद्याविनोदिनी, मराठी में मनोरंजन(1890)उडिया में उत्कल साहित्य(1897) और मुकुर(1906) तमिल में विवेक बोधिनी और पत्रिका, तेलुगु में आन्ध्र-पत्रिका। कहानी और पत्रिकाओं का यह सम्बन्ध जितना प्रायः समझा जाता है, वस्तुतः उससे कहीं अधिक गहरा और जीवन्त है।

नवजागरण-काल (1800-1910) में भारतीय कहानी बंगाली, मराठी, गुजराती और हिन्दी भाषाओं में अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा विशेष तौर से उभर कर सामने आई।

1.. कहानी के विषय में एक प्रकट सा निष्कर्ष है कि भारतीय भाषाओं में कहानी का उद्भव और विकास पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम था।

बंगाली में 1891 के आसपास रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहानी लिखने की शुरुआत के साथ ही उसे साहित्यिक गरिमा के मंच पर आसीन कर दिया। आरंभ में ही 'हिताब्दी' के लिये जो छः कहानियाँ उन्होंने लिखी थीं, उनमें उनकी प्रसिद्ध कहानी 'पोस्टमास्टर' भी एक थी। 1891-95 के दौरान उन्होंने लगभग बयालीस कहानियाँ लिखी। वे बाद में भी कहानियाँ लिखते रहे और उनमें से कुछ उत्कृष्ट शिल्प और प्रखर सामाजिक चेतना के लिये जानी भी गयीं, किन्तु अपनी कथा-रचना-प्रतिभा के चरम शिखर का स्पर्श वे इसी समय में कर चुके थे। इस बात के संकेत और प्रमाण मौजूद हैं कि वे एडगर एलेन पो, मोपासाँ और पुश्किन की कहानियों से परिचित थे और इस धारणा की पुष्टि होती है कि भारतीय कहानी पाश्चात्य प्रभाव का परिणाम है। (एडगर एलेन पो अंग्रेजी भाषा के अमरीकी कथाकार, मोपासाँ फ्रेन्च कथाकार, दोनों आधुनिक कथा के जनक की तरह विख्यात, पुश्किन रूसी भाषा के स्वच्छन्दतावादी युग के महान रूसी रचनाकार थे।) 1899 में प्रभात कुमार मुखोपाध्याय 'नवकथा' के नाम से एक कथासंग्रह के साथ बंगाली कथासंसार में प्रकट हुए। वे भी बालज़ाक (फ्रेन्च कथाकार) और मोपासाँ के प्रशंसक थे और उन्होंने अनेक यूरोपियन लेखकों के अध्ययन से कथाकथन की कला प्राप्त की थी।

लेकिन प्रभाव को एक नये गद्यरूप की संरचना के परिचय तक ही सीमित समझा जाना चाहिये। इस नये रूप का प्रयोग संक्रमण और युगान्तर से गुजरते हुए भारतीय यथार्थ और संवेदना की अभिव्यक्ति के लिये ही किया गया। 'क्षुधित पाषाण' जैसी कुछ कहानियों में रवीन्द्रनाथ में एडगर एलेन पो की कहानियों की तरह पराप्राकृतिक तत्त्व देखे जा सकते हैं लेकिन वे भारतीय परम्परा में भी मौजूद तत्त्व हैं। अन्यथा वे 'साधारण' और 'तुच्छ' पर साहित्यिक दृष्टिपात करते हैं। इस तरह वे पो से बिल्कुल भिन्न ठहरते हैं। उनकी प्रेरणा प्रज्ञाजन्य थी और वे अपने अनुभवकोष में से कहानियाँ रचते थे। अधिकांशतः उनकी कहानियाँ साधारणजन के जीवन के सुख दुख के बारे में होती थीं। प्रभात कुमार मुखोपाध्याय की कहानियों में भी आधुनिक कथाकथन के साथ पुरानी वृत्तान्त शैली समन्वय जिसे उनकी प्रतिभा की मौलिक अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। उनकी संरचना स्पष्ट और स्वच्छ, उनकी विषयवस्तु सरल तथा विनोदपूर्ण, और उनकी शैली विदग्ध और प्रवाहमयी थी। 'देवी' उनकी प्रसिद्ध कहानी है जिस पर सत्यजीत रे ने फिल्म भी बनाई।

बीसवीं सदी के पहले दशक में गुजराती में बड़ी संख्या में कहानियाँ लिखी जाने लगी थीं। बड़ी संख्या में पत्रपत्रिकाएँ छप रही थीं और युवा कथाकार उत्साहपूर्वक इस नये साहित्यरूप को अपना रहे थे। गुजराती की विशेष बात यह है कि अनेक महिलाओं ने कहानी को स्त्रीजीवन की समस्याओं के चित्रण के सर्वाधिक उपयुक्त साहित्यरूप पाया और 1909 में ही 'तुंकी कहानियो' नामक कहानी संग्रह प्रकाश में आया। सुमति, उर्मिला, विजयलक्ष्मी त्रिवेदी, शारदाबेन मेहता और अन्य लेखिकाओं की कहानियों में अपने प्रति अन्याय के प्रतिरोध में स्त्री का स्वर सुनाई देता है। इसका सम्पादन भी प्रमिला और अरविन्द नामक दो लेखिकाओं ने किया था।

क्रान्ति और मानवतावाद इस काल की गुजराती कहानी के दो पक्ष हैं। रंजितराम मेहता की अहमद-रूपनदे 1908 में प्रकाशित हुई थी जिसमें हिन्दू लड़की और मुसलमान लड़के की प्रेमकथा है जो धर्म की बाधा पार करके विवाह तक जाती है। हीरा (1909) सोहनी-महिवाल की सिन्धी-पंजाबी काव्यकथा का आधुनिक रूपान्तर है। कहानियों में नयी वस्तु और नये रुझान प्रकट हो रहे थे जिन्होंने नारद और मलयानिल जैसे सक्षम आगामी कथाकारों के लिये रास्ता खोला।

पाश्चात्य प्रभाव से भारतीय कहानी का विकास के सामान्य ढाँचे में मराठी कहानी विकास फिट नहीं बैठता।

उसका विकास मराठी नाटक के प्रभाव में हुआ। इस वजह से इस काल की मराठी कहानी न केवल नाटकीय बल्कि अक्सर तो नौटंकीया हो जाती है। मराठी भाषा में कहानी एक लोकप्रिय विधा तो बनी लेकिन साहित्यिक गरिमा नहीं अर्जित कर सकी। कहानी को उपन्यास की तुलना में घटकर माना गया इसलिये प्रथम कोटि के मराठी कथाकारों में से बहुत कम ने कहानी को गंभीरता पूर्वक ग्रहण किया। मराठी उपन्यास के क्षेत्र में आज तक भी अद्वितीय हरिनारायण आप्टे की कहानियाँ भी उनकी प्रतिभा के उस स्तर का स्पर्श नहीं करतीं जो उनके उपन्यासों में सामान्यतः मौजूद दिखाई देता है। उनके कथा संकलन फुट गोष्ठी (1889) में संग्रहीत कहानियों में केवल कुछ ही ऐसी हैं जिनपर उनकी प्रतिभा की छाप दिखाई देती है।

हिन्दी कहानी में भी रूप और संरचना चाहे जिस प्रभाव से ग्रहीत हुई हो, संवेदना की अभिव्यक्ति भारतीय यथार्थ नैतिक रुझान की ही होती है। माधोराव सप्रे की 'टोकरी भर मिट्टी (1901)' एक गरीब विधवा और अमीर जमींदार के बीच संघर्ष की कहानी है। रामचन्द्र

शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' में प्रेम की भारतीय अवधारणा का महिमामण्डन है और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' जीवन के प्रति एक आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रकाशित, वैविध्य और रचनात्मक शक्ति से भरपूर प्रेम और त्याग की कहानी है।

कहानी ने ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास के बीच एक नया अनुभवक्षेत्र पहचान कर खुद को गढ़ा। साहित्य के इतिहास में कहानी का विकास नये प्रगीत के विकास के साथ भी जुड़ा है। प्रगीत ने जीवन और प्रकृति में लघु और साधारण पर काव्यात्मक दृष्टिपात करके उसे एक नया अर्थ प्रदान किया। कहानी ने उपन्यास की वृत्तान्त पद्धति का अनुगमन करते हुए प्रगीत से रूप की कसावट, सुसम्बद्धता और भाव की एकान्विति का पाठ पढ़ा।

अपने आरंभ अर्थात् नवजागरण काल से ही भारतीय कहानी एक जनतांत्रिक विधा के रूप में स्थापित हुई। सद्वंशजात क्षत्रिय व ब्राह्मण को नायक मानने वाली या राजा अथवा ईश्वरीय अवतार की कथा सुनाने वाली शास्त्रीय परम्परा के विपरीत आधुनिक कहानी ने आम आदमी और उसके जीवन की आम समस्याओं को अपने सामने रखा। इसे दैनन्दिन और साधारण के दायरे में किसी असाधारण क्षण पर साहित्यिक दृष्टिपात कहा जा सकता है। जैसे प्रथम गुजराती कहानी शान्तिदास की विषय सामग्री ग्राम में दस्तकारों के जीवन की बदलती परिस्थितियों से ली गयी है। गाँव के बाज़ार में विदेशी वस्तुओं के छा जाने से उत्पन्न आजीविका की कठिन समस्याओं पर, प्रकारान्तर से विदेशी सरकार की आर्थिक नीतियों के कारण देश में मानवीय दुर्दशा और असहायता पर फोकस किया गया है।

पहली मलयालम कहानी 'वासनाविकृति' में एक नौजवान चोर और उसकी गिरफ्तारी का बयान हँसमुख शैली में किया गया है। साहित्य की उपदेशप्रधान मनोवृत्ति से यह एक प्रसन्न प्रस्थान है जो रोचक विषयों के रूप में मामूली और तुच्छ वस्तु की संभावनाओं का साक्ष्य देता है। उड़िया कहानी 'रेवती' में अपनी आकांक्षा और प्रचलित अंधविश्वास के बीच बँटी हुई एक विधवा ग्रामीण बाला के दुखद जीवन का यथार्थ चित्र खींचा गया है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की कथा—प्रतिभा इस कालखण्ड के दौरान स्थापित और प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वे कवि और नाटककार भी थे। आगे आने वाले दशकों में केवल कथासृजन के बल पर अखिल भारतीय प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले दो कथाकारों की प्रतिभा का प्राथमिक परिचय भी इसी काल में मिल चुका था। बंगाली में शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय और हिन्दी में प्रेमचंद। शरच्चंद्र की पहली कहानी 'मन्दिर' 1902 में एक कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुई जिसमें उन्होंने सुरेन्द्रनाथ के छद्मनाम से भाग लिया था।

भारतीय कविता में 1858 से ही देशभक्ति और जातीय आक्रोश के प्रबल स्वर सुनाई देने लगे थे। भारतीय रंगमंच और उपन्यास का राजनीतीकरण 1905 तक लगभग सम्पूर्ण हो चुका था। साहित्यरूपों में युवतम कहानी अभी राजनीतिक कोण से अभी तक मुक्त थी। राजनीतिक कहानी धनपतराय के हाथों जन्मी जिसको उन्होंने 1908 में नवाबराय के छद्मनाम से 'सोज—ए—वतन' नामक संकलन में प्रस्तुत किया था। संग्रह की कुल पाँच कहानियों में से एक कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' भी थी।

शरत के 'मन्दिर' की तरह यह किताब भी एक बड़ी प्रतिभा की पहली कौंध मात्र थी। 'सोज—ए—वतन' को सरकारी नज़र ने राजद्रोह की तरह देखा और प्रतिबन्धित कर दिया। सारी प्रतियाँ ज़ब्त कर ली गयीं और जिलाधिकारी ने फ़रमान जारी किया कि

नवाबराय का सारा लेखन छपने से पहले उनके द्वारा देखा जाएगा। 1910 में धनपतराय ने अपना उपनाम बदल कर प्रेमचंद कर लिया।

नवजागरण काल में  
भारतीय कहानी

## 14.8 सारांश

नवजागरण काल में भारतीय कहानी के अध्ययन के लिये भारतीय बहुभाषी संदर्भ, भाषिक पदानुक्रम और अंग्रेजी के आगमन से उत्पन्न व्याघात को समझना उपयोगी है। परम्परागत अनुक्रम में संस्कृत और फारसी अखिल भारतीय उपस्थिति वाली प्रतिष्ठित भाषाएँ थीं। फारसी का कार्यक्षेत्र दरबार और सरकार था, संस्कृत ज्ञान और विद्वत्ता की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। सामान्य जन की देशी भाषाओं में यद्यपि भक्तिकाल में प्रभूत साहित्य रचा जा चुका था लेकिन फिर भी विद्वत्समाज की धारणा में वे मनन, चिन्तन, सृजन के अयोग्य और तिरस्कृत थीं। उनका उपयोग हाट-बाजार तथा घरेलू काम-काज के संप्रेषण तक सीमित था। भाषाज्ञान की दृष्टि से जनसंख्या को तीन स्तरों में बाँटा जा सकता था। अपनी मातृभाषा अर्थात् कोई न कोई देशी भाषा हर व्यक्ति जानता ही था, साधारण जनसमुदाय के अधिकतर लोग केवल मातृभाषा देशी भाषा में संप्रेषण की योग्यता रखते थे। विशिष्ट समुदाय में फारसी या संस्कृत में से किसी एक या दोनों भाषाओं के ज्ञाता और वक्ता आते थे। अतः विशिष्ट समुदाय सामान्यतः या एक से अधिक देशी भाषाओं का ज्ञाता होने की स्थिति में ने केवल द्विभाषी या त्रिभाषी बल्कि सही अर्थ में बहुभाषी हुआ करता था। इन भाषाओं में पदानुक्रम कार्यक्षेत्र के बँटवारे का था, शक्ति के बँटवारे का नहीं। अंग्रेजी के प्रवेश ने स्थिति को बदल दिया और वह शक्ति और अधिकार की भाषा बनी। फारसी की जगह उर्दू ने ली। अंग्रेजी और अन्य भारतीय भाषाओं के बीच शासक और शासित का सम्बन्ध बना।

संस्कृत और फारसी के अपदस्थ होने से और विदेशी शासन के लिये प्रतिरोध के प्रखर होने से अधिसंख्य भारतीय जनसंख्या में चेतना के प्रसार ने भारतीय देशी भाषाओं—मातृभाषाओं को एक नयी भूमिका और प्रतिष्ठा दे दी जिसमें संवेदना का रूपान्तरण, राष्ट्रीय भावना—अस्मिता का जागरण, आत्मालोचन, अंतस्शोधन और समाज सुधार, आर्थिक शोषण व दमन के प्रति क्षोभ और सन्ताप और राजनीतिक अधिकार चेतना का सूत्रपात जैसी बातें शामिल थीं।

साहित्य के सन्दर्भ में नवजागरण की अगली महत्वपूर्ण बात यांत्रिक मुद्रण की शुरुआत के द्वारा आधुनिक जनसंचार का श्रीगणेश था। आधुनिक जनसंचार तकनीकी आविष्कारों द्वारा संप्रेषण को देशकाल से मुक्त करके मनुष्य के अस्तित्व की विधि को बदल देता है। छापेखाने की स्थापना और पुस्तकों की सुलभता ने साहित्य को वाचिक परम्परा से तोड़ कर लिखित—मुद्रित परम्परा की ओर मोड़ दिया। नवजागरण काल में यह अभी नया—नया सूत्रपात था। यह एक विराट सांस्कृतिक संक्रमण था जिसने समूचे देश में रचना के संसार को बदल दिया।

सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक स्थितियों में परिवर्तन के अलावा पुस्तक और पत्र—पत्रिकाओं का उत्पाद और बाजार, जनसंचार और अंग्रेजी भाषा के साथ सम्पन्न के परिणामस्वरूप नये भावलोक की सृष्टि, नये साहित्यरूपों का आविष्कार और एक नया पाठक—समुदाय वे अतिरिक्त दबाव थे जिन्होंने नवजागरण काल में कहानी के जन्म की पृष्ठभूमि बनायी।

1. भारतीय साहित्य की बहुभाषिक स्थिति को स्पष्ट कीजिए।
2. वाचिक परम्परा किन स्थितियों/परिवर्तनों से गुजरती हुई लिखित/मुद्रित परम्परा में परिवर्तित हुई, निरूपण कीजिए।
3. आधुनिक कहानी की प्रमुख प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
4. विभिन्न भारतीय भाषाओं में आधुनिक कहानी के विकास को स्पष्ट कीजिए।



---

## इकाई 15 राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में भारतीय कहानी

---

### 15.0 उद्देश्य

#### 15.1 प्रस्तावना

#### 15.2 राष्ट्रीय आंदोलन में विचार-पक्ष की सार्थक शुरुआत

#### 15.3 कहानी : एक नया विधा-रूप

#### 15.4 राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभावकारी अग्रणी कहानी-लेखक

#### 15.5 रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखी छोटी कथा का चरित्र : 'पत्नी का पत्र' शीर्षक कहानी

#### 15.6 टैगोर की कहानी 'पत्नी का पत्र' की व्याख्या

#### 15.7 कहानी के प्रारंभिक दौर में सार्थकता और समाज-सापेक्षता

#### 15.8 राष्ट्रीय आंदोलन की कहानी का अगला दौर

#### 15.9 नए कहानी-विमर्श की संभावना और चुनौतियाँ

#### 15.10 प्रेमचंद की किंचित कम चर्चित लेकिन बेहद प्रासंगिक कहानी : 'शांति'

#### 15.11 सारांश

#### अभ्यास

---

### 15.0 उद्देश्य

---

प्रस्तुत इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगी/सकेंगे कि

- राष्ट्रीय आन्दोलन में विचार-पक्ष की सार्थक शुरुआत कैसे हुई?
- किस प्रकार कहानी एक नयी विधा के रूप में उभरी।
- राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभावकारी अग्रणी कहानी-लेखकों की प्रमुख विशेषताएँ कौन सी हैं?
- टैगोर की कहानी 'पत्नी का पत्र' की व्याख्या द्वारा कहानी-विधा की बारीकियों को समझेंगे।
- नए कहानी-विमर्श की संभावना और चुनौतियों क्या हैं, समझेंगे।

---

### 15.1 प्रस्तावना

---

इसमें संदेह नहीं कि बाकी साहित्य-रूपों की भांति कहानी रूप में भी समय के साथ परिवर्तित होता है। पहले तो यही सोचिए कि कहानी का बहुत पुराना इतिहास है। इसे आदिम मनोरंजन का साधन कहा जा सकता है जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपना

मंतव्य संप्रेषित करने के दौरान एक बात को शुरू करके, फिर उसे विकसित करते हुए समापन तक पहुँचाता था। यह लंबा वृत्तांत है और इस इकाई में उस पक्ष पर बात करने का अवसर नहीं है—इस बारे में आप कहानी—संबंधी इस खंड की अन्य इकाई में पढ़ चुके हैं। यहाँ इतना बतलाना पर्याप्त है कि स्वतंत्रता आंदोलन काल में कहानी विधा—विशेष रूप एवं आकारकर ग्रहण पाई। इस बिंदु पर हम किंचित विस्तार में चर्चा करने की स्थिति में हैं। अपनी व्याख्या हम इसी से शुरू करते हैं।

हिंदुस्तान के इतिहास में यद्यपि सामाजिक—सांस्कृतिक आंदोलनों की लंबी परंपरा रही है, लेकिन सब आंदोलन एक—समान प्रभावी और सार्थक न हो। फिर कुछ आंदोलन मात्र प्रवृत्तियों की शक्ल में थे, कुछ विद्रोह का रूप लिए थे, तथा कुछ में विकास और स्वप्न का अच्छा प्रारूप दिखता था। प्रवृत्ति, विद्रोह, विकास एवं स्वप्न मनुष्य की जिजीविषा और जीवंतता के सूचक हैं और बतलाते हैं कि मनुष्य किन्हीं विशेषताओं के चलते ऐसा प्राणी है जिसमें जीवन का अर्थ ढूँढ़ने और उसे एक हद तक अपनी मर्जी मुताबिक जीने की क्षमता है। बाकी जीवन—स्तरों की अपेक्षा आंदोलन—क्रिया के स्तर यह अधिक स्पष्ट नजर आता है।

इस कारण विभिन्न कालों में घटित सभी आंदोलनों की भूमिका और गुणवत्ता निश्चय ही स्वीकार की जानी चाहिए। लेकिन विशेष रूप से सजगता, विचारशीलता और वैकल्पिक आदर्श को जिस तरह राष्ट्रीय आंदोलन ने केन्द्र में रखा और अपनी सामाजिक—राजनीतिक मुहिम को सफलता तक पहुँचाया, उसका दूसरा उदाहरण हमारे अतीत में शायद ही मिले। इस तरह राष्ट्रीय आंदोलन की समकालीन जीवन के स्वर्णिम अध्याय की भांति याद किया जा सकता है। इस इकाई में हमारा उद्देश्य साहित्य के कहानी जैसे महत्वपूर्ण रूप को इस तरह व्याख्यायित करना है कि उसमें राष्ट्रीय आंदोलन का अवदान स्पष्टता से रेखांकित हो, और हम देख पाएं कि साहित्य को समझने के लिए परिवेश की जानकारी और समझ कितनी उपयोगी हो सकती है। दूसरी ओर यह भी ध्यान रखना होगा कि राष्ट्रीय आंदोलन ने अवश्य कहानी अथवा छोटी कथा को प्रेरित करते हुए सार्थकता प्रदान की है, लेकिन अपनी ओर से छोटी कथा—रचना अथवा कहानी ने भी चेतना और विचार के प्रसारण में अहम भूमिका निभाई है। इस जटिल प्रक्रिया की व्याख्या करना भी प्रस्तुत इकाई का ध्येय है। यह कुछ उदाहरणों की मदद से किया जाए तो और अच्छा होगा।

यहां पहला प्रश्न एक तरफ समाज—देश और दूसरी तरफ साहित्य—लेखन के अंतःसंबंध को लेकर उठता है। पहले तो यही पूछा जा सकता है कि एक वक्त का समाज अपने साहित्य को प्रभावित करता है या नहीं? इसका सर्वसम्मत जवाब यही मिलता है कि साहित्य अवश्य ही लेखन पर असर डालता है। फिर भी, इस जवाब में कई पेंच हैं। साहित्य के अध्येताओं का एक बड़ा तबका शुरू में यही कहता है, लेकिन सभी साहित्य के कलापक्ष का तक्र लाकर गुरु—गंभीर बयान देता है कि असल में साहित्य देश—काल से ऊपर और परे होता है। अनेक आलोचक इस आशय की व्याख्या करते हुए 'कालजयी कृति', 'कालजयी लेखन', आदि का प्रयोग करते हैं। यह अपने ही प्रारंभिक कथन, अपनी ही मान्यता की काट हैं। वे कालबद्धता अथवा देशबद्धता की काट में प्रायः यह कहते हुए मिलते हैं कि साहित्य सार्वभौम होता है, और पूरी मनुष्यता के अनुभव की अभिव्यक्ति होता है। यह बड़ा एवं विकट सवाल है, और स्थानाभाव के कारण यहां इस पर विचार करना कठिन है। लेकिन सामान्यतः मेरा मानना है कि साहित्य अपने वक्त की भाषा में, अपने वक्त के मुहावरे में उस समय उठ रहे सवालों—सरोकारों को मुखातिब होता है। उसका

पहला एवं मूल पाठक वर्ग लेखक के अपने समाज से संबंध रखता है। इस इकाई की जिसे आप पढ़ रहे हैं, मूल तर्क यही है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्ध का भारतीय लेखन इन लगभग सौ वर्षों के घटनाक्रम के कारण अपना अनोखा और विशेष रूप ग्रहण कर पाया।

## 15.2 राष्ट्रीय आंदोलन में विचार-पक्ष की सार्थक शुरुआत

राष्ट्रीय आंदोलन के घटनाक्रम का एक अन्य दिलचस्प पहलू यह है कि इसमें सामान्य जनता के उभार की शक्ति उभरी। भारत के इतिहास में पहली बार हुआ कि असंख्य-असंख्य लोगों ने बिल्कुल नए ढंग से अपनी दुनिया को देखना शुरू किया। यहाँ दो चीजों पर ध्यान दीजिये। पहली का संबंध विचार से है, लोगों ने मस्तिष्क का इस्तेमाल करते हुए विचार के स्तर पर परंपरा, धर्म, नैतिकता, सदाचार, सामाजिक बराबरी, जाति-विभाजन के नकारात्मक पक्ष, आदि विषयों पर सोचना शुरू किया। क्या एवं कैसा सोचा, यह अलग सवाल है लेकिन मात्र सोचा, इस पर ध्यान देना अत्यंत उपयोगी है। दूसरी चीज यह थी कि सामान्य लोगों ने अपने मामूली जिंदगी को, और अपने गली-मुहल्ले, कस्बों, गांवों की सच्चाई को अपने दृष्टिकोण से देखना-परखना शुरू किया। फिर कहें कि शुरू किया-उस सोच को कहाँ और सामाजिक व्यवहार में कितनी दूर ले जा पाए, यह अलग चीज है।

मसलन तथ्य के धरातल पर पहले यह काम प्रचारकों, पंडितों, धर्माधिकारियों, मुल्लाओं, पादरियों आदि के हाथों सम्पन्न होता था। इस प्रक्रिया का सीधा असर साहित्य पर पड़ा। परिणामस्वरूप कविता की पद्य रचना की छुट्टी हो गई और उसका स्थान गद्य ने ले लिया। प्रचार-कर्म का आयतन गद्य के माध्यम से जिस तरह बढ़ सकता है, उस तरह पद्य में कम संभव है। कविता में, गीत में, विशेषकर लोकगीत में लय चलती है और उसमें एक प्रवाह होता है। उसमें सोच हुई भी तो वह सरल और एकरेखीय सोच ही होगी। गद्य में एक तर्क और आलोचना का भाव रहता है। कहें कि कुछ इसी कारण सामान्य लोगों के लिए गद्य की उपयोगिता बढ़ी और उनमें अपने सुख-दुख की अभिव्यक्ति के साहस का संचार हुआ। संभवतः इसके परिणामस्वरूप धर्म प्रचारकों, पंडितों का स्थान पूर्व की निस्वत अधिक शिद्ध से किस्सा-गोओं, दास्तान कहने वालों, कहानियों के माध्यम से गांव-गांव, शहर-शहर घूमते लोककथा के सामान्य कलाकारों ने ले लिया। यहाँ 'पूर्व की निस्वत' का प्रयोग जान-बूझ कर किया गया है। कारण यह है कि किस्सागोई और दास्तानगोई पहले भी व्यापक तौर पर प्रचलित थी, लेकिन सामान्य जनता के बीच अपनी सोच की प्रवृत्ति के आने से किस्सागोई में अपनी वास्तविक स्थितियों का अनुशासन काम करने लगा, जिसकी सार्थक भूमिका गद्य के विकास में बहुत बढ़ गई।

दूसरी तरफ, यह दौर राष्ट्रीय आंदोलन का शुरुआती दौर भी रहा। परिणामतः किस्सागोई और दास्तानगोई के कलाकारों के साथ-साथ नई शिक्षा में शिक्षित और आधुनिक विचारों से लैस मध्यवर्ग के सदस्यों ने कहानी को अपने ढंग से इस्तेमाल करना शुरू किया।

## 15.3 कहानी : एक नया विधा रूप

उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में कहानी के इस्तेमाल का धीरे-धीरे देश-व्यापी असर देखने को मिला। राष्ट्रीय आंदोलन के आदि नेताओं और अभियानकर्ताओं ने पूरे देश के अवाम को एकसाथ संगठित करने का बीड़ा उठाया और दूसरी तरफ कहानी-रूप का इस्तेमाल करने वाले लेखकों ने वक्त के घटनाक्रम के अनुरूप नई भाषा गढ़नी शुरू की।

बंगला, पंजाबी, उर्दू, खड़ी बोली, हिंदी, मराठी, गुजराती, मलयालम, तेलुगु, तमिल, ओड़िया, असमिया आदि भाषाओं में नई शब्दावली आने लगी और उनमें नई अभिव्यक्ति का संचार होने लगा। धीरे-धीरे इन भाषाओं में उपलब्ध लोककथाओं में भी निखार आना शुरू हुआ। भारत की सभी भाषाओं में यह विकास देखने को मिला। साथ ही चूंकि राष्ट्रीय आंदोलन राजनीतिक आंदोलन था, इस कारण भारतीय कहानी का रूप भी तीखे विचारों, मानवीय मूल्यों, गरिमामय चिंतन तथा साहसिक अभिव्यक्ति से प्रेरणा लेकर पूर्णतः परिवर्तनधर्मी और क्रांतिकारी बन गया। निश्चय ही भारतीय कहानी ने आधुनिकता और बदलाव के मूल्यों से सामान्य जनता की सोच को संयुक्त किया। यह भी देखने योग्य है कि संभावित राष्ट्र-निर्मित के रूप में जिस राजनीतिक एकीकरण की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में हुई और वहां जो विकास खास घटनाओं के अधीन होता गया, वह (एकीकरण और विकास) कहानी में अपेक्षाकृत अधिक गति एवं तीव्रता से हुआ। लेखकों ने वक्ती-जरूरत को अधिक गहनता और लगन के साथ समझा। इस मकसद से उन्होंने सचेत स्तर पर वह काम सम्पन्न किया जो पिछली कई सदियाँ न कर पाई। मेरा इशारा भाषाओं के बदलाव और विकास से है। अन्यान्य भारतीय भाषाओं में नई शब्दावली के निर्माण और गठन की समस्या थी—नई शब्दावली को राष्ट्र-संबंधी मांगों की भरपाई के लिए पूरी कल्पनाशीलता और रचनात्मकता के बल पर किया जा सकता था। क्या यह आकस्मिक था कि एक साथ मलयालम, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मराठी, गुजराती और उधर पूर्वदेश की बांग्ला, असमिया भाषाओं में उत्तर भारत की भाषाओं से कदम मिलाकर ऐसी कहानियां लिखी गईं, जिनका कोई इतिहास न था? इस सवाल पर जगदीश चतुर्वेदी ने अन्य तरह लिखा है : “विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यिक रूपों में अत्यंत रोचक एकरूपता मिलती है, और यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है। महाभारत और रामायण पर आधारित कथाओं की परंपरा प्रायः संपूर्ण देश में मिलती है। तमिल में कंब रामायण, तेलुगु में रंगनाथ रामायण, कन्नड़ में पंप रामायण, मलयालम में एषुत्तच्छन की अध्यात्म रामायण, मराठी में मोरोपंत की रामायण, बंगला में कृत्तिकास रामायण, असमिया में माधव कंदलि की रामायण, उड़िया में वररामदास की दांडि रामायण तथा हिंदी में तुलसी रामायण इस व्यापक परंपरा के ही अंग हैं”। (भारतीय कहानी, पृ. 8)

लेकिन जैसा कि स्पष्ट है, यह बहुत धीरे और स्वतःस्फूर्त ढंग से हुआ। इससे निश्चय ही भारतीय कहानी को आधार मिला। लेकिन भारतीय कहानी की वास्तविक शक्ति उपरोक्त प्रक्रिया में उभरी। चतुर्वेदी इसे सही तरह से स्पष्ट न कर पाए, यद्यपि अपनी ओर से उन्होंने कई उपयोगी बातें कहीं। मसलन, इससे आगे उन्होंने कहा : “भारतीय भाषाओं में आधुनिक कथा-साहित्य का उद्भव तभी संभव हो सका जब उसके समुचित प्रचार के लिए मुद्रण कला का विकास हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन स्थापित होने पर विदेश से आए अंग्रेजों ने भारतीयों को अपनी भाषा का ज्ञान कराने एवं अपने धर्म का प्रचार करने के लिए मुद्रण कला के विकास के लिए अनेक प्रयत्न किये। भारतीय भाषाओं में गद्य और उसके साथ कथा साहित्य के प्रादुर्भाव का आंशिक श्रेय निश्चय ही मिशनरी धर्म-प्रचारकों को दिया जाना चाहिए”। (वहीं, पृ. 9)

हम अपनी ओर से कहें कि यह भारतीय भाषाओं एवं विभिन्न लेखन-रूपों का प्रारंभ बिंदु है, जहां देशव्यापी राष्ट्रीय आंदोलन समकालीन कहानी जैसे विकसित रूप का मार्ग प्रशस्त करता है। इसके अनेकानेक उदाहरण भारत की विभिन्न भाषाओं में कहानी-लेखन में मिलते हैं जहां सामाजिक-राजनीतिक दबावों के चलते कथा-लेखकों ने व्यापक प्रश्नों

को अपने ढंग से परिभाषित किया, और अभियान की शक्ति में कहानियाँ लिखी। जगदीश चतुर्वेदी द्वारा संपादित उपरोक्त पुस्तक के भूमिका लेख के साथ-साथ दूसरे सूत्रों के हवाले में भी कहें कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान खास तरह का लेखकीय उभार, बल्कि उफान देखने को मिला, जिसमें उर्दू के ख्वाजा अहमद अब्बास, सआदत हसन मंटो, इस्मत चुगताई, राजेन्द्र सिंह बेदी, कृष्णचंद्र, हिंदी के गुलेरी, प्रेमचंद, यशपाल, अमृतलाल नागर, पंजाबी के कुलवंतसिंह विक्र, संतोख सिंह धीर, भाई मोहनसिंह, कश्मीरी के सोमनाथ जुत्शी, अख्दर महीउद्दीन, दीनानाथ नादिम, बांग्ला के रवींद्रनाथ, प्रेमचंद्र मित्र, ताराशंकर बंधोपाध्याय, शैलजानंद मुखोपाध्याय, माणिक बंधोपाध्याय, असमिया के रमादास और विरंचिकुमार बरूआ, उड़िया के फकीरमोहन सेनापति, कालिदीचरण पाणिग्रही आदि शामिल किये जा सकते हैं। इसी तरह गुजराती के रमणलाल देसाई, जयंत खत्री, पन्नालाल पटेल, गुलाबदास ब्रोकर, मराठी के दिवाकर कृष्ण, श्यामराव ओक, वी.खांडेकर, कन्नड के मस्ति व्यंकटेश आयंगर, शिवराम कारंत, तेलुगु के चिंता दीक्षातुलु, कोडवटिगेटि कुटुंबराव, तमिल के कल्कि, बी.एस. रमैया, पी.सोमसुंदरम, तथा मलयालम के तकषि शिवशंकर पिल्लै, मुहम्मद बशीर का मनुष्यतावादी-परिवर्तनधर्मी नजरिये में पगा साहित्यिक योगदान सराहनीय है। उक्त तथा अन्य लेखकों की मूल प्रेरणा राष्ट्रीय आंदोलन की ऊष्मा से आई। इस आंदोलन से प्रभावित लेखकों ने अपनी सांस्कृतिक भूमिका के तहत असंख्य कथा-प्रयोग किये।

#### 15.4 राष्ट्रीय आंदोलन के प्रभावकारी अग्रणी कहानी-लेखक

राष्ट्रीय आंदोलन के आदि लेखकों में खास तौर पर बांग्ला के बंकिमचंद्र चटर्जी और रवीन्द्रनाथ टैगोर का स्मरण होता है। चटर्जी कथा-लेखक और स्वप्रदर्शी थे, लेकिन उन्होंने मुख्यतः लंबी-कथा यानी उपन्यास को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। लेकिन उनके विचार और मूल्यव्यवस्था अपने काल के संदर्भ में आधुनिकता और तत्कालीनता का वहन करते थे। चटर्जी को राजसत्ता के चरित्र की भी गहरी जानकारी थी। राजसत्ता को समझने में कानून की समझ आवश्यक है। यह समझ चटर्जी में अपने समकालीनों में संभवतः सबसे अधिक थी। मूल्यों की बात करें तो चटर्जी पुरुष और नारी में समानता के हामी थे। जिन लोगों ने चटर्जी के उपन्यास *कृष्णकांत का वसीयतनामा* शीर्षक, कलेवर में छोटा, उपन्यास पढ़ा है, वे जानते होंगे कि यह लेखक नारी जीवन की अनेक परतें खोलकर पाठक को समाज की संकुचित मानसिकता के प्रति सावधान करता है। उन्नीसवीं सदी को जिन प्रारंभिक पाठकों में यह उपन्यास पढ़ा होगा वे समझने लगे होंगे कि नारी और पुरुष समान रूप से सोचने, महसूस करने साहसिक व्यवहार को अंजात देने में सक्षम हैं। आज यह मामूली लग सकता है लेकिन उन्नीसवीं सदी में यह गैरमामूली यानी असाधारण था।

लेकिन राष्ट्रीय आंदोलन की सोच और कहानी की मूल्यवत्ता को समर्पित इस इकाई के सिलसिले में रवीन्द्रनाथ टैगोर का महत्व निर्विवाद है। रवींद्रनाथ को सही ही आधुनिक चिंतन और अंतराष्ट्रीय मनुष्यधर्मी समझ का मसीहा कहा जा सकता है। आइए, इस पृष्ठभूमि में हम उनके कहानी लेखन पर संक्षेप में कुछ बातें करें।

#### 15.5 रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा लिखी छोटी कथा का चरित्र : 'पत्नी का पत्र' शीर्षक कहानी

टैगोर की कहानियों में कहानी का भारतीय पारंपरिक रूप नजर नहीं आता। मसलन,

लोकशैली तैगोर में कम मिलती है। इसका कारण यह है कि तैगोर अपने परिवेश की गहरी छानबीन करना आवश्यक मानते हैं, और इस हेतु अपनी दृष्टि को जीवन के विविध प्रसंगों के चित्रण से उजागर करते हैं। महान रचनाशीलता से संपृक्त उनकी कहानियाँ अनेकानेक प्रयोग करती हैं, जिनमें मुख्य दबाव लेखकीय प्रयोजन से आता है। जहाँ तक प्रयोजन का सवाल है, जैसा ऊपर कहा है, तैगोर मनुष्य जीवन के सकारात्मक पक्षों पर बल देना चाहते हैं और मानते हैं कि विश्व-मानवता को देशज अनुभव के आधार पर विभाजित करना राजनीतिक अपराधकर्म में शामिल माना जा सकता है। बहुत दूर तक यह नजरिया राष्ट्रीय आंदोलन का मूलमंत्र बना, जिसे अधीर भारत नामक महादेश के विभिन्न अंचल इकट्ठा होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद से भिड़े, और साथ ही दूसरे देशों के अनेकानेक बुद्धिजीवी तथा संवेदनशील तबके राष्ट्रीय आंदोलन की वैचारिक मुहिम को समर्थन देने लगे। मनुष्यता पर बल देने का ही परिणाम था कि तैगोर ने अपने समय के समाज तंत्र की लगातार बखिया उधेड़ी, और उपेक्षित तबकों तथा व्यक्तियों को स्वर प्रदान किया। यह जानने के लिए हम तैगोर की 'पत्नी का पत्र' शीर्षक कहानी पर विचार करते हैं।

यह कहानी, जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, पत्र शैली में लिखी गई है और पत्र रूप का यहां सफल निर्वाह देखने को मिलता है। बीसवीं सदी के पहले दशक में सोची और आलेखित तथा सन् 1914 में प्रकाशित यह कहानी अपने भीतर अनेक दृष्टिकोण-स्तरों को समेटे हैं। कहानी का प्रारंभ इस तरह होता है पत्नी के इन वाक्यों से होता है :

"श्री चरणकमलेषु, आज हमारे विवाह को पंद्रह वर्ष हो गए, लेकिन अभी तक मैंने कभी तुम्हें चिट्ठी न लिखी। सदा तुम्हारे पास ही बनी रही—न जाने कितनी बातें कहती—सुनती रही, पर चिट्ठी लिखने लायक दूरी कभी न मिली।

आज मैं श्रीश्रेत्र में तीर्थ करने आई हूँ, तुम अपने आफिस के काम में लगे हुए हो। कलकत्ता के साथ तुम्हारा वही संबंध है, जो घोंघे के साथ शंख का होता है। वह तुम्हारे तन-मन से चिपक गया है। इसलिए तुमने आफिस में छुट्टी की दरखास्त नहीं दी। विधाता की यही इच्छा थी, उन्होंने मेरी छुट्टी मंजूर कर ली।

मैं तुम्हारे घर की मझली बहू हूँ। पर आज पंद्रह वर्ष बाद इस समुद्र के किनारे खड़े होकर मैं जान पाई हूँ कि अपने जगत और जगदीश्वर के साथ मेरा एक संबंध और भी है। इसीलिए आज साहस करके यह चिट्ठी लिख रही हूँ, इसे तुम अपने घर की मँझली बहू की ही चिट्ठी मत समझना। (रवींद्रनाथ की कहानियाँ : भाग 1, पृ. 232)

इससे पहले कि मैं कहानी के इस उद्धरण के विषय में कुछ बतलाऊँ, यह इंगित करना चाहता हूँ कि आपके लिए पत्र-शैली की कुछ विशेषताएँ जानना आवश्यक है। जिस तरह पत्र में संवाद की भूमिका होती है, उसी तरह पत्र-शैली में लिखी कहानी के भीतर वर्णन को छोड़कर संवाद जैसी उपयोगी और साथ ही साहसिक तत्व का इस्तेमाल होता है। जहाँ वर्णन उबाऊ, नीरस और एकांगी होता है, वहाँ संवाद में दो व्यक्तियों या विचारों की टकराहट देखी जा सकती है। कहानी पढ़ते समय स्वयं पाठक टकराहट की स्थिति में प्रवेश करता है। पाठक को यह अवसर मिलता है कि वह दो विकल्पों के आपेक्षिक महत्व को जाने, उनकी तुलना करे और अपने विवेक के बल पर उनमें से बेहतर विकल्प को चुन ले। बल्कि कहानी के भीतर पत्र-शैली का चुनाव यह तय करता है कि स्वयं लेखक दो विकल्पों में से किस विकल्प को श्रेष्ठ मानता है। मसलन, कहानी के भीतर पत्र लिखने वाला पात्र स्वभावतः प्रधान-पात्र बन जाता है, क्योंकि पाठक को उसी पात्र का

नजरिया उपलब्ध होता है। इस शैली की कहानी में विभिन्न पात्रों के संवाद तो मिलते ही हैं, स्वयं कहानी एक बड़े संवाद की शकल अख्तियार करती है। आप सोचें कि राष्ट्रीय आंदोलन में वैचारिक टकराव का अतिरिक्त महत्व था। राष्ट्रीय आंदोलन का अर्थ ही यह था कि एक उपनिवेश, अर्थात् कालोनी दूसरे साम्राज्यवादी देश के विरुद्ध संघर्ष में शामिल हो। उस काल में एकाधिक विमर्शों की उपस्थिति और उनके भेद एवं टकराव को प्रेषित करना लेखन की भी आंतरिक जरूरत बन गई थी।

## 15.6 टैगोर की कहानी 'पत्नी का पत्र' की व्याख्या

अब हम ऊपर दिये गए उद्धरण पर बात करें। 'श्रीचरणकमलेषु' पर गौर करें। इक्कीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में यह शब्द अस्वाभाविक और अटपटा लगता है, लेकिन टैगोर के समय में, अर्थात् उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के संधिकाल में कोई भी स्त्री पति के पांवों, अर्थात् चरणकमलों में सिर रखना अपना सौभाग्य समझती थी। यह अवश्य है कि इसके तुरंत बाद का वाक्य पाठक को झटका देता है। 'आज हमारे विवाह को पंद्रह वर्ष हो गए' वाक्य का स्वर चौंकाता है। पैराग्राफ का अंतिम वाक्य तो बिल्कुल दूसरा ही रूप अख्तियार करता है : 'चिट्ठी लिखने लायक दूरी कभी न मिली' का अर्थ हुआ कि काश यह दूरी मिलती तो पहले ही मुझे, अर्थात् पत्र-लेखक को अपनी बात कहने का अवसर प्राप्त हो जाता। इस वाक्य में एक साथ कड़वाहट और विरोध विद्यमान है। चूंकि पत्र लेखक एक स्त्री, बल्कि पत्नी है इसलिए उद्धरण का अंतिम वाक्य विरोध और धमकी का स्पष्ट वक्तव्य बन गया है इसे (चिट्ठी को) तुम अपने घर की मँझली बहू की चिट्ठी मत समझना।' लेकिन कहानी का केंद्रीय मंतव्य क्या है? मेरी राय में यह कहानी पुरुष-प्रधान की तीखी आलोचना के लिए लिखी गई है। कहानी की नायिका मृणाल पति के परिवार में बहुओं का शोषण देखती है जहाँ उन्हें निरंतर सास के अतिरिक्त पति, देवर तथा अन्य पुरुषों के कटाक्षों का लक्ष्य बनना पड़ता है। टैगोर यह भी दिखलाते हैं कि स्त्रियों में शिक्षा का अभाव है, जिसके चलते उन्हें घर से बाहर जाने, घर से बाहर किसी रूप में सक्रिय होने की इजाजत नहीं है। विवाह के अवसर पर स्त्रियों की पसंद-नापसंद का खयाल नहीं रखा जाता, न ही उनके हितों की रक्षा का ध्यान रखा जाता है। मृणाल यद्यपि शिक्षिता है, लेकिन इसी कारण उस पर अंकुश भी अतिरिक्त है। देखने योग्य चीज यह है कि शिक्षा के कारण मृणाल सामाजिक अन्याय की प्रकृति समझने में सक्षम है। वह अपने पिता के परिवार से पति के परिवार की तुलना तो करती ही है, जेठानी अथवा छोटी बहन की यंत्रणा को भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझ पाती है। मृणाल की पीड़ा के अनेक स्तर हैं। पत्र में प्रतिबिंबित इस आत्मचिंतन पर गौर करें :

...मैं गंवई गांव की बेटी जिस दिन पहली बार तुम्हारे घर में आई, उस दिन उस बड़े शहर के बीच मुझे वे दो गायें और तीन बछड़े चिर परिचित आत्मीय-जैसे जान पड़े। जितने दिन मैं रही, बहू रही, खुद न खाकर छिपा-छिपाकर मैं उन्हें खिलाती रही; जब बड़ी हुई तब गौओं के प्रति मेरी प्रत्यक्ष ममता देखकर मेरे साथ हंसी-मजाक का संबंध रखने वाले लोग मेरे गोत्र के बारे में संदेह प्रकट करते रहे।

मेरी बेटी जनमते ही मर गई। जाते समय उसने साथ चलने के लिए मुझे भी पुकारा था। अगर वह बची रहती तो मेरे जीवन में जो-कुछ महान है, जो कुछ सत्य है, वह सब मुझे ला देती; तब मैं मँझली बहू से एकदम माँ बन जाती।...सदर में तो तुम लोगों का छोटा-सा बाग है। कमरे में भी साज-शृंगार की कोई कमी नहीं, पर भीतर का भाग मानो पश्मीने के काम की उलटी परत हो। वहाँ न कोई लज्जा है, न सौंदर्य, न शृंगार। उजाला वहाँ

टिमटिमाता रहता है। हवा चोर की भाँति प्रवेश करती है, आंगन का कूड़ा-करकट हटने का नाम नहीं लेता। (325)

इस वर्णन में गांव और शहर के अंतराल में नजर डाली गई है, लेकिन स्त्रियों के संदर्भ में चाहे गांव हो या शहर दोनों समान रूप से कठोर हैं। गांव से आई बहू पर किये जाने वाले कटाक्ष में यह निहित है कि बहू का गोत्र असल में गायों के गोत्र के करीब है। अर्थात् वह सभ्य समाज के स्तर से कोसों दूर है, जानवर है। मृणाल यह भी समझती है कि उसके जीवन की किंचित सार्थकता मां बनने में संभव थी, लेकिन वह भी न हो पाया। लेखक ने इस वर्णन में अपनी पूरी सहानुभूति मृणाल को दी है। उसकी भाषा में कविता का गुण है। घर के भीतरी भाग की तुलना देखें : 'मानो पश्मीने के काम की उलटी परत हो।' इसी तरह 'उजाला वहां टिमटिमाता रहता है। हवा चोर की भाँति प्रवेश करती है।' जाहिर है कि यह भाषा उस समय की नारी की स्वाभाविक भाषा नहीं हो सकती। लेकिन टैगोर इस पात्र की अपील में सघनता उत्पन्न करना चाहते हैं, इस कारण मृणाल के स्वर में अपना स्वर मिला देते हैं।

साथ ही इस कहानी में यह भी स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आंदोलन के समय का लेखक स्त्रियों के प्रति सम्मान और समर्थन का भाव रखता है। आज यह सरल जान पड़ता है, लेकिन संदेह नहीं कि जिस समय यह कहानी लिखी गई थी उस समय के सामाजिक वातावरण में टैगोर को सामंती आक्रोश का लक्ष्य बनना पड़ा होगा। हमें यह पहचानना होगा कि राष्ट्रीय आंदोलन में आधुनिक चिंतन से जुड़े इस रवैये की तीव्र आवश्यकता थी, साथ ही साहित्य-लेखन के लिए और विशेषकर कहानी अथवा छोटी कथा के लिए यह जरूरी था कि वह अधिकाधिक पीड़ित और दमित तबकों के साथ खड़ी हो। इस तरह स्पष्ट है कि टैगोर के हाथों कहानी-लेखन विशेषकर इस अर्थ में राजनीतिक हो चला था कि सामान्य जनता के ज़ेहन में न्यायपरक विचारों और स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करता था, और उन तबकों के, मसलन सामंती विचारों और तत्वों के, विरोध में सक्रिय था जो घोषित रूप में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन करते थे।

इस कहानी की अंतिम पंक्तियाँ प्रभाव की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं :

“तुम सोच रहे होगे, मैं मरने जा रही हूँ-डरने की कोई बात नहीं! तुम लोगों के साथ मैं ऐसा पुराना मजाक नहीं करूंगी। मीराबाई थी तो मेरी ही तरह की नारी। उसकी जंजीरे भी तो कम भारी नहीं थीं, बचने के लिए उसको तो मरना नहीं पड़ा। मीराबाई ने अपने गीत में कहा था, ‘बाप छोड़े, माँ छोड़ें, जहां कही जो भी है, सब छोड़ दें, लेकिन मीरा की लगन वहीं रहेगी प्रभु, अब जो होना है सो हो।’

अब यह लगन ही तो जीवन है।

मैं अभी जीवित रहूंगी। मैं बच गई।

तुम लोगों के चरणों के आश्रय से छूटी हुई,

मृणाल”। (336)

जो ऊपर कहा गया है, उसकी स्पष्ट उपस्थिति यहाँ भी है। टैगोर की ओर से बल्कि यह ‘उपस्थिति’ से आगे जाकर रेखांकन है। इस पर अलग से कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

## 15.7 कहानी के प्रारंभिक दौर में सार्थकता और समाज-सापेक्षता

इस कहानी के अंतर्गत उभरे मृणाल के तेवर में समाज-संरचना की समझ से पैदा होने वाला तेज है, और साथ ही विकसित दृष्टिकोण भी, जो इसलिए प्रभावित करता है कि उसमें अपने वक्त के विचार की छाप है। जैसा कि पहले संकेत किया गया है, अपने प्रारंभिक दौर में राष्ट्रीय आंदोलन ने समाज के उस तबके को पहचान लिया था, जिसकी प्रासंगिकता कमजोर पड़ती हुई अंततः समाप्ति के निकट थी। यह सामंती तबका था, और इसका आर्थिक आधार पारंपरिक कृषि-संबंध थे। किसानों के श्रम पर जीने वाला यह परजीवी तबका नगरों में बढ़ते उद्योग के सामने अपनी चमक और प्रेरणा खो रहा था। दूसरी ओर इस तबके की यह विवशता थी कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद को समर्थन देता। कारण कि ग्रामीण क्षेत्र में उसे शोषित किसानों का असंतोष और क्रोध झेलना पड़ रहा था। संस्कृति के स्तर पर यद्यपि सामंती वर्ग यह तय नहीं कर पा रहा था कि समाज में उभर रहे नए विचारों और मूल्यों से किस भांति निपटे। परिणामतः परंपरा से चिपके रहना इस वर्ग की नियति बन गई थी। लेकिन जो चीज ध्यान खींचती है वह यह है कि इस तबके की वैचारिक उलझन और परंपराबद्ध मानसिकता विशेषकर पुरुषों के बड़े हिस्से पर कब्जा जमाए थी। शिक्षिता नारियों ने परंपरा की सीमाएं समझते हुए उसकी तीखी अवमानना शुरू कर दी थी। यह देखकर, और इसे ग्रहणीय पाकर ही रवीन्द्रनाथ ने मृणाल जैसे सशक्त पात्र की सृष्टि की है।

## 15.8 राष्ट्रीय आंदोलन की कहानी का अगला दौर

पूर्व-प्रस्तुत व्याख्या के अनंतर हम भारतीय कहानी के उस दौर में प्रवेश करते हैं जब यहाँ का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश आजादी और समानता से प्रेरित प्रगतिशील विचारों को अपनाने की प्रक्रिया में नए मूल्यों से उलझने को बाध्य हुआ। असल में प्रगतिशील चिंतन स्वतःस्फूर्त उतना नहीं होता जितना विचार-मंथन की प्रक्रिया में मेहनत से अर्जित किया जाता है। प्रगतिशील विचार के लिए जोखिम उठाने का साहस जरूरी है। लेखक को अपने कहे-लिखे की कीमत चुकानी पड़ती है। स्वाधीनता के लिए यह जोखिम उठाना आशंका और भय के साथ-साथ प्रेरणा का भी विषय था। उधर स्थितियाँ टकरावी हिंसा की ओर तेजी से बढ़ रही थीं। मसलन हम देखें कि पुरातनवादी विमर्श हारते हुए भी हार स्वीकारने को तैयार न था और अपनी स्थिति को आवेगपूर्वक पुनर्व्याख्यायित करने की सोचता था। यह दिलचस्प है कि वह अपनी तरफ से राष्ट्रवादी आंदोलन को भी समर्थन देने की सोच रहा था, उसमें ली गई हिस्सेदारी का संबंध मानो जिंदा रहने-मात्र की पूर्वशर्त बन गई हो।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक में तो यह हुआ ही था कि शुद्ध राष्ट्रीयता से आधुनिकता को अलग करके पूरे संघर्ष को पश्चिम बनाम पूर्व का संघर्ष बना दिया जाए। पिछले वर्षों में हुए इतिहास-अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है। विचारणीय है कि उस संघर्ष में भारत की भीतरी परंपराशीलता और अविकसित चेतना, जातिवादी एवं रीतिमूलक सोच के विरोध का एजेंडा समाहित न था। इसके विपरीत नहीं तो कम-अज-कम अलग कोशिश यह हुई थी कि प्राचीनता के नाम पर भारत का महिमामंडन किया जाए और सामान्य जनता को नई, वैज्ञानिक तत्कालीन विज्ञान-पद्धति से वंचित रखा जाए। प्रेमचंद सरीखे यथार्थवादी प्रगतिशील कहानीकारों ने देशी सोच के इस पैतरे को समझा और इसके बरक्स समाज चेतना को बदलने, उसे विकसित करने और बदलने की बीड़ा उठाया। यह दौर मात्र तीखे चित्रण या प्रतिबिंबन का दौर न होकर समाज-शिक्षा का दौर बना। हमें याद रखना

होगा कि उस समय के भारत की बहुसंख्यक आबादी निरक्षर थी और उसे सही सोच विकसित करने में सहायक उपकरण उपलब्ध न थे। इस संदर्भ में लेखन की भूमिका दुहरी हो गई। लेखन को जीवन-स्थितियों का चित्रण करते हुए मनोरंजन प्रदान करने के साथ-साथ व्यापक समाज को शिक्षित भी करना था। निरक्षर समाज की शिक्षा के लिए कहानी से बेहतर क्या हो सकता था?

### 15.9 नए कहानी-विमर्श की संभावना और चुनौतियाँ

ऊपर के तर्क को विस्तार देते हुए उसमें कुछ और जोड़ें तो कह सकते हैं कि समय के चलते, नया राजनीतिक-सांस्कृतिक दौर एक अन्य द्वंद्व का सामना करने को बाध्य हुआ। इस द्वंद्व का रिश्ता नए पूंजीवाद विचार के भीतरी संशय से था। मसलन, यह संभव था कि यथार्थवादी सोच और जनकेंद्रित राजनीति का विकास देश को उस मुकाम पर खड़ा कर दे जहाँ से वास्तविक एवं प्रामाणिक समानता का मार्ग प्रशस्त हो जाए। बीस के दशक में इस विकासमान रवैये की आंतरिक जटिलताएँ भारतीय कथा में स्पष्ट रूप से प्रतिबिंबित हैं। मैं इसे भारतीय कहानी के विकास का नया चरण कहता हूँ, जिसके अंतरगत जटिलताओं से साहसपूर्वक जूझना आवश्यक हो गया था। यह प्राथमिकताओं को तय करने और उन्हें निर्भीकता से जीने का दौर था, जिसमें प्रश्न ही प्रश्न थे, और किसी सरल समाधान या उत्तर की गुंजाइश न बची थी। इस वैचारिक संघर्ष के जिम्मे परंपरा, नैतिकता, आस्था और गरिमा को फिर से परिभाषित करने का काम भी आन पड़ा था, ताकि कथा के लिए अपेक्षित दृष्टिकोण और विमर्श राजनीतिक-विचारधारात्मक अर्थ में पहले से अधिक समृद्ध हो सके। यह यथार्थवादी दिशा में बढ़ने वाली साहित्यधारा का महत्वपूर्ण एवं आवश्यक चरण था। उधर समूचे विश्व के सामने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक अन्य और पहले से अधिक भीषण युद्ध के बादल मंडराने लगे थे। तीस का दशक आते-आते स्थितियाँ भयावहता की ओर तेजी से बढ़ती देखी जा सकती थीं। इस गंभीर और बेहद अर्थवान् दृश्य को ग्रहण करने के लिए हम प्रेमचंद की तीस के दशक में लिखी 'शांति' शीर्षक कहानी का उदाहरण लेते हैं।

### 15.10 प्रेमचंद की किंचित कम चर्चित लेकिन बेहद प्रासंगिक कहानी : 'शांति'

प्रेमचंद की 'शांति' शीर्षक कहानी का विवेचन हमें तत्कालीन परिवेश की समझ देने, और साथ ही आज की साहित्यिक मनीषा पर जरूरी टिप्पणी करने में सहायक हो सकता है। 'शांति' का अंतर्पाठ इसी जरूरत को संबोधित है जिसमें परस्पर विरोधी विमर्शों का तीखा टकराव देखने को मिलता है। इस पर यहां संक्षेप में विचार करें और देखें कि विशेषकर तीस का दशक किस भांति लेखकीय माहौल का सामना नैतिक और विचारधारात्मक कठिनाईयों से करा रहा था। तीस के दशक में कई निर्णायक चीजें हुई थीं जिनमें मुख्य विश्व-पटल पर समाजवादी व्यवस्था के स्थापित होने से संबंधित है। सन् 1930 का वर्ष आते-आते रूसी समाज समूची, पूंजीवादी दुनिया की आँखों में कांटे की भांति खटकने लगा था। कई औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय आंदोलनों ने जोर पकड़ा था। उनमें कुछ आंदोलनों का रूप अनिवार्यतः समाजवादी बनता जा रहा था। यूरोप के अपने देशों में समाजवाद की लहर चल रही थी। इंग्लैंड में तो समाजवादी ताकतों ने पूरे सांस्कृतिक माहौल को अपने असर में ले लिया था। लेकिन विडंबना यह थी कि इंग्लैंड के उपनिवेश भारत में प्रतिसमाजवादी तत्व सचेत हो गए थे। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन की वाहक कांग्रेस पार्टी में लगभग विघटन की स्थिति आ गई थी। कांग्रेस पार्टी में राष्ट्रीय

चेतना के कमजोर पड़ने ने प्रेमचंद जैसे यथार्थवादी लेखक को चिंता और निराशा में ढकेल दिया था। क्या हो सकता था? जिस सकारात्मक विचार और मानवीय मूल्य का उभार बीस के दशक में देखने को मिला था वह तीस के दशक में समस्याओं से घिर गया था। 'शांति' कहानी समाज की इस अंतर्निहित पीड़ा को बयान करती है।

'शांति' के केंद्र में दो स्त्रियों, मां और बेटी की व्यथा—कथा है। बल्कि मुख्यतः यह गोपा नामक मां की कहानी है जो अपनी जिंदगी को अपनी गरिमामयी शर्तों पर जीना चाहती है। लेकिन जिन सामाजिक स्थितियों के सामने वह खड़ी है, वे उसका इच्छाओं—आकांक्षाओं के प्रतिकूल हैं और अपना संवेदनहीन तक्रर उसके व्यवहार पर आरोपित करना चाहती है। यहाँ स्थितियों की प्रतिकूलता विभिन्न विमर्शों के माध्यम से व्यक्त हुई है।

यह दिलचस्प है कि 'शांति' में एक ऐसा पात्र स्मृति के धरातल पर उपस्थित है जिसकी वर्णित घटनाक्रम की शुरुआत से पहले ही मृत्यु हो चुकी है—फिर भी उसका प्रभाव कहानी के कलेवर में प्रभावकारी छाया की मानिंद आद्यांत मौजूद है। वह पात्र है देवनाथ—कहानी के आख्याता अर्थात् 'मैं' का मित्र। जिस तरह आख्याता अपने मित्र देवनाथ को हमेशा आदर से याद करता है, उसी तरह बल्कि गुणात्मक रूप में उससे कई गुणा बेहतर देवनाथ की पत्नी गोपा ने अपने पति की याद को मन में संजोकर रखा है। गोपा कहानी के भीतर वही करती है जो देवनाथ करते यदि वह जीवित रहते। क्यों? इस काल्पनिक प्रश्न के जवाब में आख्याता अर्थात् नैरेटर का यह खुलासा पढ़ें, तो उस समय का अत्यंत यद्यपि प्रायः खारिज किया जाने वाला विमर्श था। :

"मित्रों ने उनकी (देवनाथ की) निष्कपटता से अनुचित लाभ उठाया, और कई बार उन्हें लज्जित भी होना पड़ा, लेकिन उस भले आदमी ने जीवन से कोई सबक लेने की कसम खा ली थी। उनके व्यवहार में ज्यों के त्यों रहे—'जैसे भोलानाथ जिए, वैसे ही मरे।' जिस दुनिया में वह रहते थे, वह निराली दुनिया थी, जिसमें संदेह, चालाकी और कपट के लिए स्थान न था—सब अपने थे, कोई गैर न था। मैंने बार—बार उन्हें सचेत करना चाहा, पर इसका परिणाम आशा के विरुद्ध हुआ। मुझे कभी—कभी चिंता होती थी कि उन्होंने हाथ बंद न किया तो नतीजा क्या होगा? लेकिन विडंबना यह थी कि उनकी स्त्री गोपा भी कुछ उसी ढांचे में ढली हुई थी। हमारी देवियों में जो एक चातुरी होती है, जो सदैव ऐसे उड़ाऊ पुरुषों की असावधानियों पर 'ब्रेक' का काम करती है, उससे वह वंचित थी। यहां तक कि वस्त्राभूषण में भी उसे विशेष रुचि न थी। (मानसरोवर भाग—1, पृ. 99)"

यह सोच सरल, निश्चल एवं ईमानदार जिंदगी का विमर्श है, और यदि देवनाथ और उसकी पत्नी गोपा ने इसे अपनाया है तो जाहिर है समाज में इसका स्वागत होना चाहिए। लेकिन कहानी का आख्याता उसे 'निराली दुनिया' कहता है जिसमें देवनाथ रहते थे—आख्याता के लिए देवनाथ का व्यवहार चिंता का विषय है, जिसके लिए वह उन्हें 'सचेत करना' चाहता है। गोपा में भी ये गुण कमजोरी माने जा रहे हैं—इसे 'विडंबना' कहा जा रहा है कि उसमें 'चातुरी' नहीं है। हम देख पाते हैं कि असल आख्याता के माध्यम से कहा जा रहा है कि पुरुषों की तथाकथित असावधानियों पर ब्रेक लगाना चतुर नारी का कर्तव्य है ताकि पति 'भोलानाथ' न रहें, बल्कि बाकी लोगों की तरह 'निष्कपट' का विपरीत बन जाएं। ये ऐसे लोग हैं (जिनमें आख्याता शामिल है) जो सामान्य समाज की शक्ल में देवनाथ और साथ ही पत्नी गोपा और बेटी सुनीता (सुन्नी) को घेरे हैं।

चूंकि संदर्भ राष्ट्रीय आंदोलन का है, इसलिए पाठक के मन में सवाल उभर सकता है कि स्वयं राष्ट्रीय आंदोलन की मूल भावना का चरित्र क्या था? क्या राष्ट्रीय आंदोलन की मूल

भावना यह न थी कि अंग्रेजी साम्राज्य से मुक्ति पाकर भारत एक सुखी और प्रसन्न देश बने जिसके सपने समानताधर्मी हों और जनसमुदाय के बीच पारस्परिकता और भाईचारे का रिश्ता हो? मेरा मत यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन में जी-जान से शामिल और सर्वस्व त्यागने को तैयार भारत की जनता 'निराली' दुनिया का सपना देखती थी, व्यावहारिकता ऊंच-नीच को देखकर समझौतापरस्ती का नहीं। लेखक के रूप में स्वयं प्रेमचंद 'निराली' दुनिया के लिए लड़ रहे थे जिसके उदाहरणस्वरूप वह देवनाथ, गोपा और सुनीता को रखते हैं। इस कहानी के नायक एवं केंद्रीय पात्र ये तीन लोग हैं, इन्हीं के माध्यम से मौत के समय की 'शांति' का वह खाका खींचा जा रहा है जो वास्तविक समाज की प्रस्तुत तस्वीर से बेहतर है। कहानी का अंत यही कहता है। देवनाथ की बेटी सुनीता द्वारा अंततः ही आत्महत्या पर कहे गए गोपा के इन शब्दों पर गौर करें :

"मुझे तो सुन्नी (बेटी सुनीता) की मौत से प्रसन्नता हुई। दुखिया अपनी मान-मर्यादा लिए संसार से विदा हो गई, नहीं तो न जाने क्या-क्या देखना पड़ता। इसलिए और भी प्रसन्न हूँ कि उसने अपनी आन निभा दी। स्त्री के जीवन में प्यार न मिले तो उसका अंत ही अच्छा। तुमने सुन्नी की मुद्रा देखी थी? लोग कहते हैं, ऐसा जान पड़ता थी—मुस्करा रही है। मेरी सुन्नी सचमुच देवी थी। भैया, आदमी इसलिए थोड़े ही जीना चाहता है कि रोता रहे। जब मालूम हो गया कि जीवन में दुख के सिवा और कुछ नहीं है, तो आदमी जीकर क्या करे, किसलिए जिए? खाने और सोने और मर जाने के लिए? यह मैं नहीं कहती कि मुझे सुन्नी की याद न आएगी और मैं उसे याद करके रोऊंगी नहीं। लेकिन वह शोक के आंसू न होंगे, हर्ष के आंसू होंगे। बहादुर बेटे की माँ उसकी वीरगति पर प्रसन्न होती है। सुन्नी की मौत में क्या कुछ कम गौरव है? मैं आंसू बहाकर उस गौरव का अनादर कैसे करूँ? वह जानती है, और चाहे सारा संसार उसकी निंदा करे, उसकी माता सराहना ही करेगी। उसकी आत्मा से यह आनंद भी छीन लूँ? (113-114)

कहानी के आरंभ और अंत से दिये गए इन दो उद्धरणों का विमर्श एक ही है। जैसा पहले कहा है, यह विमर्श मानवीय सिद्धांतों पर अड़ने, उन्हें गंभीरता से अपनाकर व्यवहार में रूपायित करने का विमर्श है। लेकिन इन दो उद्धरणों के बीच अवस्थिति सचाई का अपना चरित्र है। वहाँ विकृति, छल-छद्म और रूग्ण मानसिकता है। उनकी पृष्ठभूमि में गोपा का परिश्रम, त्याग और साहस अतिरिक्त वेग से प्रकट होता है। भिन्न व्यवहार-नियमों से परिचालित दो परिवारों की मूल्य केन्द्रित टकराहट पाठक के सामने समझौतापरस्ती का विकल्प गोपा और सुनीता के सामने पूरी शिद्दत से रखती है जो उन्हें स्वीकार नहीं। सुनीता का विवाह जिस युवक से हुआ, वह संबंधों की गरिमा को खेल का विषय समझता था। प्रेममयी और स्नेही पत्नी को सम्मान देने के विपरीत युवक को उच्छृंखलता पसंद थी। इस स्थिति में सुनीता को अंदर से झकझोर दिया। लेखक ने संबंध की इस सीमित चर्या को सामाजिक आयाम देते हुए युवक के पिता का विमर्श लाना आवश्यक समझा। देवनाथ के विपरीत उस युवक के पिता की मूल्य-व्यवस्था जिससे सुनीता का विवाह हुआ, लोभ, सफलता, एवं व्यावहारिकता पर आधारित था। वहाँ ईमानदार जीवन के लिए स्थान न था। इस अर्थ में सुनीता और पति का संघर्ष दो पात्रों या दो परिवारों का संघर्ष न रहकर दो मूल्य-व्यवस्थाओं का संघर्ष बन गया। और अधिक व्यापक होकर यह संघर्ष के दो आयामों को उजागर करने में सफल हुआ। देवनाथ के विमर्श का विलोम सुनीता की ससुराल के विमर्श में नज़र आता है। उदाहरण के लिए मदारीलाल (सुनीता का ससुर) आख्याता को अपना पक्ष किंचित विस्तार से बतलाता है :

"इसका (सुनीता और पति के बीच मतभेद का) कारण इसके सिवा और क्या बताऊँ कि दोनों अपने मां-बाप के लाड़ले हैं और प्यार लड़कों को अपने मन का बना देता है। मेरा

सारा जीवन संघर्ष में कटा। अब आकर जरा शांति मिली है। भोग—विलास का कभी अवसर ही न मिला। दिन—भर परिश्रम करता था, संध्या को पड़कर सो रहता था। स्वास्थ्य भी अच्छा न था। इसलिए बार—बार यह चिंता सवार रहती थी कि कुछ संचय कर लूं। ऐसा न हो कि मेरे पीछे बाल—बच्चे भीख मांगते फिरे। नतीजा यह हुआ कि इन महाशय (सुनीता के पति) को मुफ्त का धन मिला। सनक सवार हो गई। शराब उड़ने लगी। फिर ड्रामा खेलने का शौक हुआ। धन की कमी थी ही नहीं उस पर माँ—बाप के अकेले बेटे। उसकी प्रसन्नता ही हमारे जीवन का स्वर्ग था। पढ़ना—लिखना तो दूर रहा, विलास की इच्छा बढ़ती गई। रंग और गहरा हुआ, अपने जीवन का ड्रामा खेलने लगे। मैंने यह रंग देखा तो मुझे चिंता हुई। सोचा, ब्याह कर दूँ, ठीक हो जाएगा। गोपा देवी का पैगाम आया, तो मैंने तुरंत स्वीकार कर लिया। मैं सुन्नी को देख चुका था। सोचा, ऐसी रूपवती पत्नी पाकर इसका मन स्थिर हो जाएगा।...लड़के तो प्रायः मनचले होते हैं। लड़कियाँ स्वभाव से सुशीला होती हैं और अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। उनकी सेवा, त्याग और प्रेम ही अस्त्र है, जिससे वे पुरुष पर विजय पाती हैं। उसमें (सुनीता में) ये गुण हैं नहीं। डोंगा कैसे पार होगा, ईश्वर ही जाने। (110.111)

जैसा ऊपर कहा है, यह एक भरापूरा प्रतिविमर्श है और प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आंदोलन के साहसिक, स्वप्रदर्शी, मानवीय विमर्श के समांतर रखकर इस प्रतिविमर्श की बखिया उधेड़ी है। मसलन, इस प्रतिविमर्श में 'संघर्ष' का अर्थ खूब पैसा कमाना है और इसके बीज शब्द 'संचय', 'मुफ्त का धन', 'शराब उड़ाना', 'मन स्थिर होना', आदि हैं। साथ ही, इस विमर्श में मर्दों और औरतों के व्यवहार—नियम एवं आदर्श अलग—अलग हैं—लड़के तो प्रायः मनचले होते हैं। लड़कियाँ स्वभाव में सुशीला होती हैं और अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। स्त्रियों के हाथों इस्तेमाल होने वाले गुणों की सूची में अलग किस्म की है जिसमें सेवा, त्याग और प्रेम आते हैं। याने सेवा, त्याग और प्रेम मूल्य या आदर्श न होकर सीमित हितसाधन के निमित्त समाज को उपलब्ध 'अस्त्र' हैं। इस विमर्श के अनुसार मनुष्य समाज की व्यावहारिकता मुश्किलों का समाधान यदि हैं भी तो संभवतः ईश्वर के पास हैं—'डोंगा कैसे पार होगा, ईश्वर ही जाने।' इस विचार—श्रृंखला की पृष्ठभूमि में सुनीता का आदर्श—प्रेमी साहसिक निर्णय और माँ गोपा द्वारा उसका स्वीकार अतिरिक्त चमक के साथ पाठक के सामने प्रकट होते हैं।

स्पष्ट है कि बीसवीं सदी के दूसरे दशक में लिखी गई रवीन्द्रनाथ की उपरोक्त कहानी से अलग प्रेमचंद की कहानी तीस के दशक का संकट प्रतिच्छवित करती है। जहाँ रवीन्द्रनाथ की कहानी में विरोधी विमर्श से टक्कर लेने पर बल है, वहाँ प्रेमचंद में बिल्कुल दूसरे वक्त की विवशता, उलझन और बेचारगी की पीड़ा झलकती है। यह अवश्य है कि दोनों ही कहानियाँ अपने मूल में मनुष्यता की संघर्षशील प्रवृत्ति को पहचानती हैं—इस तरह ये दोनों कहानियाँ राष्ट्रीय आंदोलन के दो भिन्न चरणों में विकसित रवैये की वेदना, तल्खी और साहसिकता की अभिव्यक्ति बनती हैं। यही समूचेपन में उस भारतीय कहानी के बारे में कहा जा सकता है जो देश की विभिन्न भाषाओं में वहाँ के अंचलों की व्यवहार—क्रिया को समर्पित थीं, और जिन्होंने पचास—साठ वर्षों की लंबी कालावधि में भारत के जनसामान्य का सांस्कृतिक—राजनीतिक अनुभव शब्दबद्ध किया। इस अनुभव के कई हिस्से थे और विभिन्न हिस्सों के चित्रण के दौरान कई विमर्श—संबंधी स्तरों का निर्वाह आवश्यक था। उक्त संकट के तरत प्रेमचंद के हाथों ये हुआ है। इसे लक्षित करते हुए चंद्रभूषण तिवारी ने अपनी 'आलोचना की धार' शीर्षक में सही लिखा है कि—

प्रेमचंद की वस्तु-योजना....में सामाजिक जीवन के अंतर्विरोधों का ही नहीं, बल्कि अंतर्संबंधों का भी एक बहुत बड़ा संसार है; बल्कि हम यूँ कहें कि वे (प्रेमचंद) सिर्फ अंतर्विरोधों के ही लेखक नहीं हैं.....बल्कि अंतर्संबंधों के भी लेखक हैं। (धार, 197)

इस तर्क की व्याख्या करते हुए तिवारी आगे कहते हैं कि प्रेमचंद की कहानियों के माध्यम से वस्तुतः उनके समय का पूरा सामाजिक जीवन बिंबित होता है—गाँवों के जीवन के सबसे निचले हिस्से पर स्थिति भूमिहीन किसान तथा खेतिहर मजदूर वर्ग से लेकर बड़े भूमिपति तथा जमींदार वर्ग के लोग अपने तमाम संबंधों के साथ उनमें दिखाई देते हैं; बीच के पात्र—बनिये, मुंशी, पंडित आदि भी अपनी सामान्य भूमिका के साथ प्रस्तुत हैं; जमींदारों के अमले भी हैं, सरकारी तंत्र के बहुत छोटे-बड़े, कल-पुर्जे भी पुनः उनमें एक ओर 'कफन' के घीसू और माधव जैसे अर्द्ध-सामाजिक परजीवी पात्र दिखाई देते हैं, खेतिहर मजदूर के रूप में सहसा रूपांतरित होता हुआ 'पूस की रात' का हल्कू मिलता है, आपसी द्वेष के चलते मजदूर बन गए 'मुक्ति-मार्ग' के बुद्धू और झींगुर हैं, 'दो बैलों की कथा' का मंझोला किसान झूरी है; सामाजिक स्तर पर तिरस्कृत और सामंती वर्ण व्यवस्था की शिकार 'मंदिर' की सुखिया है तो दूसरी ओर इन्हीं कहानियों में ठाकुर साहब हैं, चौधरी साहब हैं; गाँव का बनिया है, मंदिर का पुजारी है, रामलीला का ठेकेदार है, बहुत सारे लोग उनमें हैं; सिर्फ ग्रामीण जीवन के ही नहीं, शहरों के भी—निम्न मध्यवर्ग के पात्रों को लेकर उसके ऊपरी सिरे तक के पात्र, छात्र और युवा समुदाय, नौकरी के पेशे के भीतर और बाहर के लोग, अधेड़ और बुजुर्ग; असहयोग आंदोलन में साथ देते हुए—मृदुला (जेल), नोहरी ('समरयात्रा'), जयराम (जुलूस); उससे लाभ उठाते हुए 'चकमा' के सेठ चंदूमल जैसे पात्र, उसे तोड़ने की कोशिश करते मोटेराम शास्त्री (सत्याग्रह) जैसे लोग; फिर सामंती व्यवस्था की रूढ़ियाँ, परंपराओं और प्रथाओं की शिकार कुसुम जैसी लड़कियों; आधुनिक सभ्यता के प्रभावों के बीच घिरी मिस जोशी, मिस पदमा; अलग जाति और धर्मों के लोग—सकीना और हामिद, जेनी और पादरी मोहनदास—सभी इनमें दिखाई देते हैं और प्रेमचंद इन सबको जानते हैं; इनके अडोस-पड़ोस से भी परिचित हैं, इनके दोस्तों और दुश्मनों से भी वाकिफ हैं; सिर्फ इन्हें ही नहीं बल्कि इनके पूरे पारिवारिक जीवन को, इनके आसपास के संबंधों को तथा इनके तमाम सामाजिक अंतर्विरोधों को भी पहचानते हैं। (धार, 197-198)

विषय और सरोकारों का यह विस्तार, यह रेंज क्योंकर था? क्यों राष्ट्रीय आंदोलन की एक महत्वपूर्ण भाषा का लेखक समाज के अधिकतम तबकों की जीवन-शैली और सोच को अपनी रचना में समेटने की सोचता था? देखने योग्य है कि विशेषकर सोच के संदर्भ में अनेकानेक शंकाएँ भी उभर रही हैं और संबंधित पात्रों के पास उन शंकाओं के निराकरण का उपाय न था। मेरी राय में, इन शंकाओं का जुड़ाव भारतीय उच्च वर्गों की दोगली नीतियों से था, और अन्य समाज यह न जानता था कि साम्राज्यवाद से लड़ी जाने वाली लड़ाई किस भांति भारत के उच्च वर्गों से लड़ी जाने वाली लड़ाई के साथ एकमेक हो सकती है। 'शांति' के दोनों पात्रों, गोपा और सुनीता विचारधारा और अनुभव के स्तर पर इसी संकट का भार वहन करते हैं। संकट से संबंधित यह सवाल अपनी जगह आज भी बना है, जिसके अंतर्गत आदर्शों पर चलना कठिनतम कार्य है।

दूसरी ओर सुविधाभोगी वर्ग पूरे जीवन-प्रवाह का इस्तेमाल अपने सीमित हितों के लिए करने को प्रतिबद्ध है। यह सवाल कहानी से बाहर निकल कर तत्कालीन समाज की स्थितियों पर भी लागू होता था। फिर यह भी नहीं कि प्रेमचंद ही अपने लेखन के भीतर ऐसा कह रहे थे। राष्ट्रीय आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण करने वालों में अधिसंख्य यही लिखते और महसूस करते थे।

के वर्षों में उजागर हुआ। पचास के दशक में स्थिति बदलने के समकक्ष कहानी से की जाने वाली अपेक्षाओं में गंभीर बदलाव देखने को मिले। यह पिछले अनुभवों से सीखते हुए आगे बढ़ने का समय था। फिर, कहानी को भी अपने रूप और चरित्र पर पुनर्विचार करना आवश्यक था। कुछ ऐसे सवाल जिन्हें स्वाधीनता आंदोलन के समय पूछने से साम्राज्यवाद-विरोध कमजोर पड़ता, अब पूछे जा सकते थे। अचानक 'नया' शब्द लोकप्रिय हुआ था। यह सोचना भी अलग तरह उपयोगी हुआ था कि 'नये' का संबंध राष्ट्रीय आंदोलन के समय लिखी गई कहानी के साथ क्या हो। इसका जवाब ढूँढने के लिए राष्ट्रीय दौर की कहानी का चरित्र जानने से निश्चित लाभ होता। आज भी इससे अपनी स्थितियों का सामना करने में सुविधा हो सकती है। वर्तमान को समझने और उसे सही-स्वस्थ दिशा देने के लिए इतिहास की पृष्ठभूमि को परखना जरूरी है।

## 15.11 सारांश

रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र, प्रेमचंद और उनके समवर्ती विभिन्न भारतीय भाषाओं के अनेकानेक कहानीकारों की रचनाएँ राष्ट्रीय आंदोलन के महत्वपूर्ण अंतिम दौर में यथार्थवाद की नवीनतम मंजिलें तय कर पाई। इन मंजिलों में से एक पूंजीवाद के व्यापक चरित्र की समझ से संबंधित थी। जिस तरह के सवाल उठने लगे थे अथवा कहानीकारों द्वारा पूछे जा रहे थे उनका आपेक्षित उत्तर भी शायद ही अब तक मिल पाया हो। बल्कि राष्ट्रीय आंदोलन की समाप्ति पर भारत की कहानी पर आधुनिकतावाद तथा नव्य आलोचना के कई तत्व हावी हुए, जिनके तथाकथित विकास के अनुपात में रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा प्रेमचंद की कहानी परंपरा कमजोर होनी शुरू हुई। वह अलग विषय है, लेकिन पिछले सौ वर्षों की सार्थक यथार्थवादी कहानियाँ आज के रचनात्मक कथा-साहित्य के समकक्ष रखी जाएं तो सकारात्मक परिणाम होंगे।

### अभ्यास

1. कहानी के रूप पर टिप्पणी करते हुए आधुनिक भारत के उसके विकास की व्याख्या कीजिए?
2. रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी 'पत्नी का पत्र' का मूल संदेश क्या है और वह किस भांति नये मानवीय मूल्यों को इंगित करती हैं?
3. प्रेमचंद की कहानी 'शांति' पर विवेचनात्मक टिप्पणी कीजिए?
4. राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान लिखी गई भारतीय कहानी की स्वतंत्रता-पश्चात के काल में क्या प्रासंगिकता है? इस प्रश्न की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

---

## इकाई 16 स्वाधीनता के बाद भारतीय कहानी का विकास

---

### 16.0 उद्देश्य

#### 16.1 प्रस्तावना

#### 16.2 1947 के बाद : परिवेश और परम्परा

#### 16.3 विभाजन : रक्तपात और हिंसा के वृत्तान्त

#### 16.4 आधुनिक संवेदना की पुनः परिभाषा

#### 16.5 गाँव और शहर – नगरकेन्द्रिकता

#### 16.6 पारिवारिक सम्बन्धों के बदले हुए समीकरण

#### 16.7 सामाजिक सरोकार की कहानियाँ

#### 16.8 कुछ विशिष्ट कहानीकार : एक संक्षिप्त सूची

#### 16.9 सारांश

अभ्यास

---

### 16.0 उद्देश्य

---

इस इकाई को पढ़ कर आप जान सकेंगी/सकेंगे कि

1. स्वाधीनता के आगमन से भारतीय साहित्य के परिवेश में सामान्यतः क्या परिवर्तन उपस्थित हुए
2. भारतीय कहानी में ये परिवर्तन किन प्रवृत्तियों के जनक बने,
4. क्या भारतीय कहानी में कोई सामान्य विकासक्रम देखा जा सकता है?

---

### 16.1 प्रस्तावना

---

15 अगस्त 1947 के मध्यरात्रि को स्वाधीनता की घोषणा बाकी हर वस्तु की तरह साहित्य के इतिहास में भी विभाजक रेखा खींच देने वाली परिघटना बनी। आज हम भारतीय विकास को आज़ादी के पहले और आज़ादी के बाद जैसे चरणों में विभक्त करते हैं। भारतीय कहानी विकासक्रम भी इसका एक उदाहरण है।

भारतीय साहित्य के एक तथा अखण्ड रूप की कल्पना को लेकर साहित्य-अकादमी की स्थापना आज़ादी के बाद की घटना है। एकता और अखंडता की इस संकल्पना के साथ बहस और प्रतिवाद की भी स्थिति भी है। इस विषय में असहमति के आधारभूत तर्क के रूप में नीहारंजन रे का मन्तव्य प्रायः उद्धृत किया जाता है जिसके अनुसार "साहित्य

अपनी भाषा से अभिन्न होता है, अतः जितनी भाषाएँ, उतने साहित्य। इसका निहित संकेत यह है कि प्रत्येक भाषा अपने समाज की विशिष्ट संस्कृति की वाहिका होने के कारण विशिष्ट और स्थानीय होती है। इसलिए एक भारतीय साहित्य ही नहीं, अनेक भारतीय साहित्यों की बात की जानी चाहिये। भारत की एक दो नहीं, चौदह राष्ट्रीय भाषाएँ हैं और इन सबमें लिखित साहित्यों का सामूहिक नाम भारतीय साहित्य कहा जा सकता है।

इस बहुवचनार्थक एकवचन में भारतीय साहित्य की एक संवैधानिक व्याख्या तो है किन्तु ऐसा कोई साहित्यिक, सांस्कृतिक कारण अथवा तर्क नहीं है जिसके अनुसंधान की आकांक्षा से चौदह 'अलग-अलग' भाषाओं के 'अलग-अलग' साहित्यों को एकसाथ एक श्रेणी में रखकर देखा जाए। आधुनिक विश्व में औपनिवेशीकरण, वैश्वीकरण, मानव-समाजों की बढ़ी हुई गतिशीलता, प्रवासन, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, संचार का विकास आदि अनेक कारणों से भाषा की स्थिति खासी जटिल हो गयी है और एक अनेक समाज एक ही भाषा में तथा इसके उलट एक समाज अनेक भाषाओं में स्वयं को अभिव्यक्त करता हुआ दिखाई दे सकता है। जैसे कि अंग्रेजी भाषा न केवल इंग्लैंड और अमरीका बल्कि कैंनेडा, आस्ट्रेलिया, लातीनी अमरीका, दक्षिण अफ्रीका, अन्य अनेक अफ्रीकी देश, कुछ हद तक भारत भी, आदि आदि अनेक देशों के साहित्यों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः शिशिर कुमार दास की प्रस्तावना है कि इसे हम एक भाषा में लिखित अनेक साहित्यों का उदाहरण मान सकते हैं। इसके विपरीत भारत की चौदह राजभाषाओं में लिखित साहित्य समान परम्परा, समान विरासत, समान इतिहास-भूगोल, समान मूल्यचेतना के कारण अनेक भाषाओं में लिखित एक साहित्य का उदाहरण माना जा सकता है।

आज़ादी के पहले तक एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध एकजुट संघर्ष की जरूरत के परिणामस्वरूप एकता का एक धुंधला अमूर्त भाव में 'अनेकता में बीजरूप एकता' और विविधता में बीजरूप समानता की तरह परिभाषित होकर साहित्य में भी अभिव्यक्त होता रहा था। इसे आज एक तात्कालिक राजनीतिक जरूरत के सांस्कृतिक अनुषंग की तरह देखा जा सकता है।

बहुलता और भिन्नता के बीच एक स्थायी धुरी की तरह भारतीयता को एक मूल्यचेतना के रूप में कल्पित किया जाये तो विद्वानों के अनुसार भारतीय मनीषा के मूल तत्त्व इस प्रकार हैं (1) भौतिक जगत और जीवन में सन्निविष्ट किसी न किसी चेतन सत्ता/महत् सत्य में विश्वास। उसका स्वरूप किसी बने-बनाए चौखटे के अनुसार निश्चित और निर्दिष्ट नहीं है। (2) त्याग की भावना से अनुशासित उपभोग की कामना, (3) अद्वैत के मूल प्रत्यय से प्रेरित विभिन्न दर्शनों के अनुसार भेद में अभेद, अनेकता में एकता, विविधता में समानता के विविध रूपान्तर, (4) मानववादी मूल्यों की धर्मगत स्थापना। धर्म यहाँ रिलीजन (Religion) का अनुवाद अथवा सम्प्रदाय के पर्याय की तरह नहीं, अपितु धारण करने योग्य के मूल अवधारणात्मक अर्थ में प्रयुक्त है। (5) सत्य के रुढ़िमुक्त विकासशील रूप की कल्पना के परिणामस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता और सद्भाव। भारतीय मनीषा की यह परिकल्पना हमारे अद्वैतवादी दर्शनों की सुदीर्घ परम्परा में से निचोड़ी गयी तथा अनेक देशी विदेशी विद्वानों द्वारा कमोवेश इसी रूप में परिभाषित की गयी। यही बीजरूप एकता की अनेकरूप अभिव्यक्ति की तरह भी पहचानी गयी। स्वाधीनतापूर्व साहित्य के पास एक संयुक्त भारतीय अस्मिता की रचना का लक्ष्य था। तबकी हर भारतीय में अपने प्रदेश की सीमाओं परे समस्त भारतीय भूगोल और इतिहास/पुराण/मिथक के लिये प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। देवी की प्रतिमा के रूप में भारतमाता की कल्पना भी सभी भारतीय भाषाओं में प्राप्त होती है। इन्हें अखिल भारतीय अस्मिता का लक्षण माना जा सकता है।

लेकिन अस्मिता की अखिलता का भाव स्वैच्छिक सामंजस्य से उत्पन्न होता है, उसे जर्बदस्ती थोपा नहीं जा सकता। इसके विपरीत अपनी भिन्नता और विशिष्टता के अहसास को एक ओर लघुतर अस्मिता की अलगाववादी चेतना में और दूसरी ओर अपने प्रति उपेक्षा व अन्याय के रोष में बड़ी आसानी से जगाया और उभारा जा सकता है। 'अनेकता में एकता' जैसा कि इस शब्दबन्ध से ही स्पष्ट है, एक दोहरी प्रक्रिया है जो प्रादेशिक अस्मिताओं को एक तरफ एक लचीले बन्धन में बाँधती है तो दूसरी तरफ बन्धन से छूट भी देती है। आज़ादी मिलने के फौरन बाद कुछ वर्षों तक इस शब्दबंध के सहारे भावनात्मक एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता को स्वयंसिद्ध सा मान लेने का भोला प्रयास किया जाता रहा लेकिन अनेकता और भिन्नता वस्तुतः प्रकट तथा भौतिक रूप से मौजूद हैं जबकि एकता और समानता प्रच्छन्न रूप में निहित है। उनको अर्जित करना पड़ता है। अलगाव का अहसास अहंकार की तृप्ति से जुड़ा है जो मनुष्य की सहज अनुभूति है, अखिलता का अहसास अहंकार के विस्तार से उत्पन्न होता है जो मनुष्य का काम्य तो है किन्तु सहज-साध्य नहीं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि समाज की संरचना के मूल में किसी न किसी रूप और स्तर का शक्ति-विमर्श निश्चित रूप से सन्निहित होता ही है। इसके कारण समाज के भीतर कुछ समूह ताकतवर व प्रभुत्वशाली तथा कुछ अन्य समूह दुर्बल व दलित की हैसियत में रहते हैं। अखिलता का स्वप्न चाहे तो एकजुट ताकत का औजार भी बनाया जा सकता है, लेकिन दूसरी तरफ शक्ति-विमर्श में निहित गैर-बराबरी, अन्याय व शोषण को ढाँकने की चादर भी। मनुष्य का हर प्रत्यय दोधारा है। अतः इतिहास, पुराण और भूगोल की स्वाधीनतापूर्व सामान्य साझेदारी एकता की जिस आकांक्षा को प्रकट करती है वह भारतीय साहित्य का केवल एक घटक है। दूसरा, उतना ही प्रबल तथा स्वाधीनता के उपरान्त निरन्तर प्रबलतर होता हुआ घटक प्रादेशिकता का है। साहित्य में प्रादेशिकता अपने उत्कृष्टम स्तर पर स्थानीय सांस्कृतिक जड़ों का पर्याय है। इनसे रचना को यथार्थ की प्रमाणिकता प्राप्त होती है लेकिन अपनी विशिष्टता का यह अहसास बहुत आसानी से श्रेष्ठता का अहंकार बन सकता है। इसका कुछ आभास अस्मिता की स्वाधीनतापूर्व चेतना में भी मिलने लगा था। अपनी विशिष्टता के अहसास की अभिव्यक्ति बंगाल की इस प्रचलित मान्यता में देखी जा सकती है कि बंगाल जो 'आज' सोचता है बाकी राष्ट्र उसको 'कल' सोचेगा (What Bengal thinks today the Nation will think tomorrow) दूसरा उदाहरण तमिल भाषा का है जहाँ स्वाधीनतापूर्व ही अंग्रेजों की फूटनीति के फल में तमिल अभिमान की रक्षा का अलगाववादी आन्दोलन खड़ा हो चुका था। संस्कृत भाषा, 'आर्यजन' ब्राह्मण, उत्तर भारत और वैदिक संस्कृति का प्रचण्ड विरोध इस आन्दोलन का संकल्प भी था और हथियार भी। शिशिर कुमार दास ने मणिपुर के सन्दर्भ में चौधरी मणिहार सिंह को उद्धृत किया है, "सामंजस्य की प्रक्रिया प्रच्छन्न कर दी गयी और उग्रतापूर्व हिन्दुत्व का विरोध और स्थानीय आस्थाओं को बढ़ावा देने और स्थापित करने का आन्दोलन तथा मूर्तिभंजन और मन्दिर-दहन की घटनाओं का आरंभ हुआ।" राष्ट्रीय आन्दोलन के अखिल भारतीयता के स्वप्न में अनेक लघुतर समुदाय शामिल नहीं हुए। एकता में अनेकता के प्रत्यय का 'अनेकता' वाला सहज, भौतिक और वास्तविक पक्ष यह है कि भारत के विभिन्न भाषिक समाज व समुदाय अपनी-अपनी अस्मिता के आग्रही रहे हैं और साहित्य इस आग्रह की अभिव्यक्ति का प्रमुख औजार रहा है। भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों, भाषाओं, धर्मों और देशज विशेषताओं की रंगारंग अल्पना/रंगोली है। हर भाषा की अपनी विशिष्ट मेधा, हर प्रदेश के अपनी रीति-रिवाज, अपने उत्सव, अपने साहित्य, कला और कलारूप, और स्वभाव भी लेकिन उनमें अनिवार्यतः आदान-प्रदान तथा अन्य भाषाओं के साथ लेन-देन चलता रहता है।

स्वाधीनता की प्राप्ति और देश के विभाजन ने इन आग्रहों को खुले में ला दिया। कहा जा चुका है चौदह राष्ट्रीय भाषाएँ इन आग्रहों की संवैधानिक स्वीकृति हैं लेकिन भारतीय साहित्य की अवधारणा में संवैधानिक के अलावा भी अनेक आधारभूत सांस्कृतिक, साहित्यिक और अकादमिक कारण हैं।

एकता और अनेकता का मसला इतना सीधा नहीं है कि उसे एकता या अनेकता से प्रतिस्थापित करके सुलझा लिया जाये और एकता के पक्ष को दक्षिणपन्थी व अनेकता के पक्ष को वामपन्थी धड़ों में बाँटकर रफ़ादफ़ा कर दिया जाये। साहित्य अकादमी के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा प्रसिद्ध कन्नड़ लेखक यू.आर. अनन्तमूर्ति के बहुत सटीक शब्दों में “भारतीय साहित्य में भिन्नता की तलाश करने चलें कि एकता सामने आ जाती है और एकता को खोजें तो भिन्नताएँ दिखाई देने लगती हैं।” प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक ऐजाज अहमद का भी मानना है कि “बहुभाषिकता और बहुभाषी तरलता भारतीय रचनात्मकता का मौलिक स्वभाव है।” विभिन्न भाषाभाषी अपने प्रान्त के बाहर लगभग सभी अन्यभाषी प्रान्तों में फैले हुए हैं और इनमें साहित्य के लेखक और पाठक भी शामिल हैं। अपनी मातृभाषा से इतर अन्य किसी प्रादेशिक भाषा में रचना करने वाले साहित्यकार भी मौजूद हैं और अनुवाद तो भाषाओं के बीच सेतुबन्ध है ही। पूर्वोल्लिखित परम्परागत मूल्यचेतना को अलग छोड़ते हुए अगर केवल स्वाधीनता के उपरान्त आधुनिक साहित्य को समेकित अध्ययन का विषय बनाया जाये, जहाँ से परम्परा से उच्छिन्नता का आरंभ होता है, उसमें भी अगर केवल कथा साहित्य को चुना जाए तो यथार्थ की सीधी अभिव्यक्ति होने के कारण स्वाभाविक रूप से स्थानीय और विशिष्ट होता है और उसमें भी अगर हम केवल कहानी को चुनें जो संक्षिप्त आकार के कारण प्रायः स्थानीयता और विशिष्टता की परतों में लिपटी हुई एकता को टटोलने का अवकाश नहीं पाती, तो भी उनके समवेत में समानता के इतने आयाम दिख जाएंगे कि यू.आर. अनन्तमूर्ति के पूर्वोल्लिखित कथन को प्रमाणित कर दें।

साहित्य के अध्ययन का नया अनुशासन है तुलनात्मक साहित्य। यह भाषा और देशकाल की सीमाओं और अलगावों के परे जाकर मनुष्य के सर्जक मन की विधियों को पढ़ने की प्रविधियों के विकास से सम्बद्ध है। इसमें एक सर्जनात्मक वैश्विक मन के आविष्कार की संभावना निहित है जो अपनी विशिष्टताओं और अन्तरों की तह में समाया हुआ है के. सच्चिदानन्दन की प्रस्तावना है कि भारतीय साहित्य की संकल्पना को भी इतना जीवन्त और समावेशी होना होगा कि विभिन्न बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक आवाज़ों को अपने भीतर धारण कर सकें। एक वैकल्पिक आयोजना की तलाश करनी पड़ेगी, जिसके सहारे शक्तिविमर्शीय मानकों के परे, व्यापक/लोकप्रिय रचनात्मकता के गहनतम उत्स तक वापस जा सके। एकता के किसी यांत्रिक प्रत्यय की बजाय एक लोकमान्य तुलनात्मक अवधारणा एक नया साहित्यिक मानचित्रा रचना जरूरी है जिसमें अलगाव, परस्परता, विशिष्ट विन्यास और समान प्रभाव अंकित किये जाएँ। केवल तब हम ऐकिक और बहुल के विलोम-द्वैत का अतिक्रमण और एकता व अनेकता के दोहरे आयामों में भारतीय साहित्य का संधान कर सकेंगे।

## 16.2 1947 के बाद : परिवेश और परम्परा

भारत की स्वाधीनता के अलावा बीसवीं सदी के मध्याह्न का एक अधिक व्यापक, वैश्विक सन्दर्भ भी है—1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध का अन्त।

विश्व के इतिहास में बीसवीं शताब्दी को बड़ी निष्ठुर शताब्दी की तरह दर्ज किया जा सकता है। ईश्वर अपदस्थ और बहुजन मानवता अपने साथी मानव समुदायों के हाथों बड़े

पैमाने पर उपनिवेशिक, वंचित, अभिशप्त, दलित और सर्वहारा की हैसियत को पहुँच चुकी है। मानवता ने बहुत थोड़े अन्तराल पर दो-दो महायुद्धों का सामना किया और आणविक बम-विस्फोट के सत्यानाशी विध्वंस के रूप में अणु के गर्भ में अनन्त की शक्ति के निवास का साक्षात्कार किया। बर्ट्रान्ड रसेल ने द्वितीय विश्वयुद्ध के इस अन्त के पश्चात लिखित अपने 'माइण्ड ऐट द एण्ड ऑफ़ इट्स टेदर्स' (दिमाग और लगाम की हद पर) नामक निबन्ध में समूची मानवता को सामुदायिक मनःविक्षेप तक जा पहुँची हुई कहा है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मनुष्य के पास संचित सनातन और विराट की धारणाओं का, उनसे जुड़े विश्वासों, मान्यताओं, आदर्शों और स्वप्नों का ध्वंस हो चुका था यद्यपि भारत ने अपने स्वाधीनता संग्राम तक गाँधी के नेतृत्व में उन्हें लोकवृत्त में बचाए और स्वीकार किये रखा था।

इस सामूहिक विनाश के संत्रास और विभीषिका को भारत ने भले ही पूरी तरह से अपनी धरती पर नहीं झेला लेकिन आंशिक पैमाने पर कोहिमा का मोर्चा, अपने शासकों और भारतीय सेना की सक्रिय भागीदारी, संचार माध्यम, आर्थिक व्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव आदि के द्वारा वह भी इस में शामिल हुआ। इस पैमाने के हिंसाकाण्ड, विनाश और मृत्यु के कोलाहल ने जीवन के प्रति आस्था को चरमरा दिया और निराशा व अवसाद को विश्व का वातावरण बनाया। ये इस युद्ध के विश्वव्यापी नतीजे थे जिनसे दुनिया का कोई भी कोना शायद ही अछूता रहा है।

ऐसे वातावरण में भारतीय स्वाधीनता की उपलब्धि भी अपने संघर्ष की सफलता से अधिक औपनिवेशिक सत्ता की निर्बलता और मजबूरी का फल थी। विभाजन की त्रासदी उसके साथ जुड़ी हुई थी। विभाजन, बड़े पैमाने पर सांप्रदायिक दंगों की हिंसा व रक्तपात और गाँधी की हत्या प्रतीकात्मक रूप से उन मूल्यों को तिलांजलि थी जो स्वाधीनता संग्राम के घोषित रूप से स्वीकृत मूल्य थे।

स्वाधीनता की पूर्वसंध्या का प्रभात अपेक्षित प्रकाश लेकर नहीं आया था। संघर्ष के दौरान अपेक्षाएँ और आकांक्षाएँ स्थगित रही थीं। इसके बाद मोहभंग की शुरुआत थी। इसका सूत्रपात स्वाधीनता मिलने के पहले ही हो चुका था। अन्तरिम सरकार में भागीदारी का मौका पाते ही नेताओं की असलियत खुलने लगी थी। साहित्य में आगामी के प्रति आशंकाएँ अभिव्यक्त होने लगी थीं।

यह दो महायुद्धों के बीच का समय था। प्रथम महायुद्ध के दौरान व्यापक विनाश और उसके बाद की आर्थिक मंदी और अभाव का व्यापक असर अभी बाकी था। इस युवा होती, किशोर पीढ़ी की आँखों के सामने भगतसिंह को फाँसी हो चुकी थी। कांग्रेस का संपूर्ण आज़ादी का संकल्प लिया जा चुका था, सिविल नाफ़रमानी का दौर था लेकिन स्वाधीनता आन्दोलन में एक उल्लासरहित उतार का समय था। यह अगली उग्र युवा पीढ़ी के प्रवेश और पिछली पीढ़ी से टक्कर का समय था। स्वाधीनता-संग्राम में भी यह अवसाद और उतार का समय था, परम्परा और सनातन के विचार से उच्चाटन का, किसी भी किस्म के उदात्त का, मूल्यों-मान्यताओं को चुनौती के आरंभ का दशक है। इस युवा पीढ़ी का आंकलन करते हुए लक्ष्मीकान्त वर्मा ने लिखा है कि "टूटे हुए घरों, घरों से असन्तुष्ट युवा, सीधे राजनीतिक आन्दोलन से जुड़े हुए युवजन के पास भले ही एक मकसद रहा हो, अन्यथा यह एक निराश और मोहभंग युवा पीढ़ी थी। पाश्चात्य साहित्य का जो नया रेला भारत में प्रविष्ट हुआ था वह उसके मानसिक संसार की रचना में भी हाथ बँटा रहा था टी.एस.ईलियट का वेस्ट लैण्ड, हेमिंग्वे, बर्नार्ड शॉ, ऑस्कर वाइल्ड, नीत्शे, डॉस्ताव्स्की, टॉल्स्टॉय इत्यादि। शायद इसीलिये उस समय का साहित्यिक प्रतिष्ठान जाने-पहचाने

स्वर से अलग किसी भी स्वर को आसानी से विदेशी नकल या प्रभाव के नाम से खतिया देता था। विजयदेव नारायण साही ने पाँच मार्च 1931 की रात, गाँधी-इर्विन समझौते के एक दिन बाद के बारे में नेहरू की आत्मकथा से एक उद्धरण किया है।

“कुल यही था जिसके लिये हमारे लोगों ने साल भर तक इतनी बहादुरी बरती? हमारे सारे बहादुर शब्दों और कर्मों को इसी नौबत पर पहुँचना था? कांग्रेस का इतनी बार दुहराया गया स्वाधीनता का संकल्प? 26 जनवरी की सौगन्ध तो मार्च की उस रात में लेटा सोचता रहा, और मेरे हृदय में एक विराट शून्य था जैसे कोई बेशकीमती चीज़ लगभग सदा के लिये खो गयी हो।

“इस तरह ख़त्म होती है दुनिया

धमाके से नहीं, बल्कि बिसूरते हुए।”

नेहरू अपने मन की बात को ईलियट की कविता की पंक्तियों में व्यक्त करते हैं। इस शून्य, इस खालीपन को विजयदेव नारायण साही ने चौथे दशक का स्वर कहा है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने विश्लेषण में कहा है कि इस पीढ़ी की चेतना में दर्शन का रैशनलिस्ट, आधा-अधूरा पीढ़ियाँ सृजनरत हुआ करती है। हिन्दी भाषा पाठक की हैसियत में यदि रचनाकारों के नामों से हम इन पीढ़ियों के कालक्रम की निशानदेही करें तो 1947 में वरिष्ठतम पीढ़ी के रचनाकारों में अभी वे लोग भी मौजूद थे जिन्होंने 1920 का आदर्शवादी दौर देखा था। हिन्दी का उदाहरण लें तो निराला, पन्त, महादेवी वर्मा। उनके बाद की पीढ़ी में अज्ञेय, जैनेन्द्र और यशपाल। जिन रचनाकारों का जन्म तीसरे-चौथे दशक में तथा सृजनचेतना का विकास चौथे-पाँचवें दशक में हुआ उनका नाम स्वाधीनता के दशक की अपनी पीढ़ी के रचनाकारों की तरह गिना जा सकता है। स्वाधीनताप्राप्ति के आस-पास साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रवेश करने वाली कथाकार पीढ़ी में हिन्दी में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त, फणीश्वर नाथ 'रेणु' आदि तथा अन्य भारतीय भाषाओं में उनके समकालीनों के नाम आते हैं। यह मोहभग्न पीढ़ी थी।

भाषा और साहित्य की दृष्टि से स्वाधीनता के उपरान्त घटित एक महत्वपूर्ण घटना भाषा के आधार पर प्रदेशों का पुनर्गठन है। पुराने बहुभाषी प्रान्तों में भाषाओं के बीच पदानुक्रमिक सम्बन्ध बदल गया। असमिया, बंगाली और उड़िया इस बदले हुए सम्बन्ध का मुखर उदाहरण है। अपने जैसा एक अलग उदाहरण सिन्धी है जो विभाजन के बाद अपना प्रदेश खो बैठी। प्रान्तों के भाषावार पुनर्गठन के बाद स्वाधीन भारत में सिन्धी एक बेघर भाषा हुई। सिन्धीभाषी समुदाय तो रहा लेकिन प्रदेश नहीं रहा। इसलिये सिन्धी संस्कृति और अस्मिता की रक्षा का पूरा दारोमदार साहित्य पर आ रहा।

स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान लगभग एक सदी से भाषा का जो प्रेम देशभक्ति का एक घटक था वह आज़ादी के बाद ताकत की राजनीति का औजार व राष्ट्र की धारणा के लिये खतरा बन गया। भाषिक अस्मिताएँ प्रादेशिक अस्मिता का आधार और टकराहट का कारण बनीं। इसके बावजूद पूर्वोल्लिखित हिन्दी के रचनाकारों की इन पीढ़ियों के सभी अन्यभाषी समकालीनों की रचना में विषयवस्तु, प्रवृत्ति, मानसिकता, शिल्प सम्बन्धी प्रयोग आदि की दृष्टि से समानता और समकक्षता दिखाई देती है।

स्वाधीनता और उसके आसपास के समय में भारतीय साहित्य का एक अंश उल्लास और उपलब्धि की अभिव्यक्ति में रचा गया लेकिन बहुत थोड़े समय के लिये। अधिकांश वह

काव्य था। कथा—साहित्य—उपन्यास हो या कहानी—यथार्थ के लिये प्रतिबद्धता की अपनी मूल प्रकृति के कारण वस्तुस्थिति में व्याप्त निराशा और मोहभंग का साक्ष्य देता है। संघर्ष के दौरान स्वाधीनता एक मकसद थी लेकिन प्राप्ति के बाद वह एक उपलब्धि नहीं बनी। संघर्ष के अन्त में प्राप्य झिलमिलाता स्वप्न लुप्त हो गया। संघर्ष में जनता की भागीदारी थी, देश के पुनःनिर्माण में उसे शामिल नहीं किया गया। वह विदेशी सहायता से पंचवर्षीय योजनाओं का सरकारी कार्यक्रम बन कर रह गया और कोटा, परमिट, लाइसेंस की लालफीताशाही भ्रष्टाचार में डूबती धँसती गयी। प्रशासन का तंत्र वही रहा जो अंग्रेजों ने बनाया था, सिर्फ प्रचालन करने वाले बदल गये। जनता के पास संघर्ष और मकसद की जगह पर शून्य रह गया। आगामी दो दशक में निराशा और मोहभंग भारतीय साहित्यों का प्रमुख स्वर बना। सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक जीवन में परिवर्तन का प्रतीक्षित झोंका नहीं आया क्योंकि स्थितियाँ आनन—फानन में रातोंरात नहीं बदला करतीं, बदलाव का पहला चरण अव्यवस्था, बिखराव और अराजकता की तरह महसूस होता है, देशव्यापी बदलाव के सिलसिले में यह स्थिति और भी ज्यादा लम्बे समय तक बनी और चलती रहती है। आज़ादी के पैसठ साल बाद भी भारत इससे गुजरता ही चल रहा सा प्रतीत होता है। विभाजन के बाद भारत ने तीन युद्धों का, एक संक्षिप्त आपातकाल का और नक्सल आन्दोलनों के रूप में आतंकवाद और क्रांति के घालमेल का सामना किया जो अव्यवस्था और अराजकता के विस्तार की तरह ही सामान्य जन के अनुभव में दर्ज हुआ।

फिर भी, कहने को सामन्ती समाज का अन्त हुआ, जनतंत्र और मिश्रित अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ, जो अन्ततः 1990 के दशक में मुक्त प्रतियोगिता की बाज़ारनीति में पर्यवसित हुई। वैश्वीकरण ने पूरी दुनिया को बाज़ार बना दिया। औद्योगीकरण का विस्तार और शहरी विकास बड़े पैमाने पर जनता के विस्थापन का कारण बना। अधोषित पूंजीवादी समाज में वर्गीय विभाजन प्रखर हुआ, आर्थिक विकास और बेहतर आमदनी के बावजूद आम आदमी और भी असहाय हुआ। उपभोक्तावादी मूल्यों ने जीवन स्तर में वृद्धि का दावा करते हुए मानसिक विपन्नता और निर्धनता के अहसास को स्थायी भाव बना दिया।

सांस्कृतिक बहुलता, विविधता और अनेकता की चेतना से प्रेरित सामाजिक पुनर्गठन के प्रयासों से अस्मिता—विमर्शों का आरंभ हुआ। सामाजिक न्याय के उद्देश्य से दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक तथा स्त्री—विमर्शों का आरंभ हुआ। स्वाधीनता के बाद की भारतीय कहानी का नवीनतम अध्याय इन्हीं विमर्शों की अभिव्यक्ति है।

जहाँ तक कथासृजन की विषय—वस्तु और रचनादृष्टि का सवाल है, लगभग नब्बे या सौ वर्ष पहले जो सूत्रपात हुए थे वे स्वाधीनता प्राप्ति के पहले ही परिपक्वता को पहुँच चुके थे। कहानी की परम्परा भी कुल नब्बे—सौ वर्ष जितनी ही पुरानी है। स्वाधीनता के दशक की जिस नयी रचनाकार पीढ़ी का जिक्र ऊपर किया गया है, यह यद्यपि अपनी रचनादृष्टि को परम्परा के लिये चुनौती और एक अलग नयी शुरुआत मानने की आग्रही बनी रही लेकिन परम्परा और नये प्रयोगों के बीच एक निरन्तरता और सातत्य के सूत्र मौजूद है। खास तौर से तीस—चालीस के दशक में सामाजिक चेतना का मार्क्सवादी अवतार जो प्रगतिशील लेखक—संघ के अवदान से प्राप्त हुआ था, फ्रायड के प्रभाव से वैयक्तिक संवेदना के सन्दर्भ में अचेतन मन का विज्ञान और काम—चेतना का नया रूप स्थापित नैतिक मापदण्डों को नयी चुनौतियों, रचनात्मक संवेदना का वैयक्तिक और सामाजिक संवेदनाओं में विभाजन, इन नये विचारों के आलोक में पात्रों की रचना और चरित्र—चित्रण की नयी दृष्टि को स्वाधीनता के लगभग समकालीन या थोड़ा पहले के

### 16.3 विभाजन : रक्तपात और हिंसा के वृत्तान्त

15 अगस्त, 1947 की मध्यरात्रि की घोषणा के साथ देश का विभाजन भी जुड़ा हुआ था। विभाजन से सीधे प्रभावित प्रदेशों का नागरिक जन-जीवन रक्तपात और हिंसाकाण्ड की सार्वजनिक विभीषिका के अनुभव से गुजरा। इस अनुभव पंजाबी, बंगाली, सिन्धी और उर्दू भाषाओं के स्वाधीनता के तत्काल-उपरान्त साहित्य को सामुदायिक हिंसा और रक्तपात के भीषण वृत्तान्त दिये। विभाजन एक सामुदायिक सामाजिक संघात था; छिना हुआ घर, छूटे हुए परिवार और रिश्ते, टूटे हुए लोग—फिर भी लेखक ने बहुत समझ और सन्तुलन के साथ साम्प्रदायिकता के उबाल के समक्ष अपनी दुविधा को सुलझाया। साम्प्रदायिक सौहार्द और सहिष्णुता की अभिव्यक्ति के लिए दूसरे समुदाय के पात्रों की सज्जनता और मानवीयता को रेखांकित करके अथवा दोनों समुदायों के खलनायक एक दूसरे के समकक्ष रखकर सन्तुलन की स्थापना की। राजनीति के अखाड़ेबाजों को दोनों ही सम्प्रदायों के खलनायकों की तरह समरूप दिखाया गया और कई बार तो दोनों समुदायों के खलनायकों के बीच सांठ-गांठ भी चित्रित की गयी। साम्प्रदायिकता का उन्माद आज भी इस रूप में एक कठिन विषयवस्तु है कि कहानी स्थूल उपदेशात्मकता से भी बची रहे और प्रभावक्षम भी बनी रहे। इस आशंका के वह और भी अधिक कठिन हो जाती है कि लेखक किसी समुदाय के फतवों और संगठित विरोध का शिकार न बन जाए।

यूँ तो इस विषय में विस्तृत छानबीन लायक अवकाश उपन्यास में ही मिलता है और ऐसे अनेक उपन्यास इन भाषाओं में लिखे भी गये लेकिन कई कहानियों ने स्मृति की पीड़ा और ध्वंस की विकरालता के सामने हक्का बक्का आदमी की असहायता, असह्यता से उत्पन्न मानसिक विक्षेप जैसी अनुभूतियों को पूरी तीव्रता और सघनता में अविस्मरणीय बना दिया है। पंजाबी में कुलवंत सिंह विक्रे की 'मुर्दे की ताकत', और किशन सिंह छाबड़ा की 'अस्मत', बंगाली में सतीनाथ भादुड़ी की 'गणनायक', नरेन्द्रनाथ मित्रा की 'पलंक', समरेश बसु की 'आदाब' और उर्दू में क्लासिक की हैसियत को पहुँची हुई सआदत हसन मण्टो की 'टोबाटेक सिंह', 'खोल दो' तथा अनेक लघुकथाएँ इसका उदाहरण हैं।

### 16.4 आधुनिक संवेदना की पुनः परिभाषा

भारतीय आज़ादी के सौ साल पहले आधुनिकता का आरंभ दर्ज किया जा चुका था लेकिन औपनिवेशिक काल में भारतीय मानस ने यूरोप के ज्ञान-विज्ञान और ताकत के प्रति आकर्षण के बावजूद स्वाधीनता के लिये संघर्ष की मानसिकता के सहारे एक प्रतिरोध बनाए रखा था। अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता के अभिमान, अतीत के लिये लगाव तथा गौरव और स्वाधीनता के दावे से ताकत पाकर स्वयं को पूर्ण समर्पण से रोकता रहा था। स्वाधीनता मिलने के बाद वह प्रतिरोध समाप्त हो गया। सामाजिक प्रभुता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता, निजी और सार्वजनिक का फासला, मिथक और इतिहास आदि आदि विषयों में जो बहसें भारतीय साहित्य की आधुनिक संवेदना को परिभाषित करती हैं उनका स्रोत अधिक अकादमिक और अबाध्य रूप से यूरोप हो गया। तीसरे चौथे दशक में ही इसका सूत्रपात हो चुका था। चिन्तन और संवेदना के स्तर पर भारतीय आधुनिकता पुर्नजागरण और सुधार, प्रबोधन/ज्ञानोदय और औद्योगिक क्रान्ति जैसे चरणों से गुजर कर विकसित नहीं हुई बल्कि साहित्यिक बिरादरी में सदियों से प्रचलित रूपों और विधाओं को विकल्प

खोजने की प्रबल लालसा से उत्पन्न हुई। नयी विषयवस्तु और विधाओं में अचानक वृद्धि, आम आदमी और उसकी जिन्दगी में रुचि। अब तक की उपेक्षित और दमित, मौन और हाशियाकृत हर वस्तु—प्रकृति, बस्ती, शहर, गाँव, नीरस व्यवसाय और तुच्छ कर्म, यातना और विरोध—साहित्य के विषय बनने लगे। साहित्य के उत्पादन में यांत्रिक हस्तक्षेप और सामाजिक ताने बाने में नयी शिक्षा और नये प्रशासन के आने वाले परिवर्तन का परिणाम।

आधुनिक संवेदना का प्राथमिक लक्षण मानव—केन्द्रिकता है। वह ईश्वर, धर्म, देवलोक, उपरान्त—जीवन, दैवी आचार—संहिता, सनातन आदि आदि अवधारणाओं के विरुद्ध है और वस्तुगत भौतिक यथार्थ को एकमात्र सत्य मानती है। मानव के भौतिक अस्तित्व के प्रत्यक्ष रूप से दो आयाम हैं—व्यक्तिगत और सामाजिक। दोनों को मिलाकर ही उसका अस्तित्व सम्पूर्ण होता है। ईश्वर को अपदस्थ करके इस सम्पूर्ण मानव अस्तित्व को केन्द्र में रखने वाली संवेदना आधुनिक होती है।

दूसरे—तीसरे दशक तक की कहानी में सामाजिक संवेदना दलित और विपन्न के साथ सहानुभूति और तादात्म्य का पर्याय थी; जैसे उर्दू और हिन्दी में प्रेमचंद, बंगाली में शरतचन्द्र, उड़िया में फकीरमोहन, कन्नड़ में मास्ति वेंकटेश आयंगार, तेलुगु में पुलिकांट कृष्णा रेड्डी, मराठी में वि.स.खाण्डेकर, तमिल में न. पिच्चमूर्ति, गुजराती में धूमकेतू इत्यादि। वैयक्तिक संवेदना की कहानी में काव्यात्मकता और रुमान की प्रबलता थी, जैसे बंगाली में रवीन्द्र नाथ ठाकुर, हिन्दी में प्रसाद, उड़िया में दयानिधि मिश्र, कन्नड़ में अज्जमपुरसीतापुर आनन्द, तेलुगु में पालगुम्मि पद्यराज, मराठी में वामन चोरघड़े, तमिल में कु.प. राजगोपालन, गुजराती में 'द्विरेफ' आदि। कुछ अन्य भाषाओं में कहानी की शुरुआत अभी हो ही रही थी। लगभग सभी भारतीय साहित्यों में संवेदनाओं के ये समकक्ष मौजूद हैं। लेखक की संवेदना में व्यक्ति और समाज का बंटवारा इस तरह प्रतिपक्षों में नहीं हुआ था। सभी लेखक सभी तरह की कहानियाँ लिख रहे थे। आदर्श और रुमान में प्रभामण्डित इन कहानियों में यथार्थ कमोबेश शिल्प का मसला था, संवेदना का नहीं। ईश्वर अभी मौजूद था और संयोग या हृदयपरिवर्तन से मामला सुलझा लिया जाता था।

लेकिन तीसरे—चौथे दशक की कहानी को फ्रायड और मार्क्स के वैचारिक परिचय और विचारधारात्मक आधार ने संवेदना को विश्लेषणात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। इन्हीं परिप्रेक्ष्यों का विकास और विस्तार आजादी के बाद की कहानी में भी दिखाई देता है।

सन तीस से चालीस के दौरान दस—पाँच वर्षों के अन्तराल में अनेक भारतीय भाषाओं में भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के तत्वाधान में राजनीति के साहित्यिक समकक्ष की तरह प्रगतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात और प्रगतिशील लेखकसंघ की स्थापना हुई। साहित्य के परिदृश्य पर मार्क्सवाद का पदार्पण ऐसी घटना है जो भारत को एक विश्वव्यापी साहित्यिक आन्दोलन के साथ जोड़ता है। गाँधी और मार्क्स दोनों ही साम्राज्यवाद—विरोध और शोषित वंचित जन के लिये चिन्ता से प्रेरित थे। 1936 में मुल्कराज आनन्द (अंग्रेजों के लेखक) और कुछ अन्य साथी प्रवासी भारतीयों ने लन्दन में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की स्थापना की थी लेकिन जल्दी ही यह एक विशाल अखिल भारतीय आन्दोलन बन गया। प्रगतिशील आन्दोलन में गांधी और मार्क्स की अन्तर्दृष्टियों को जोड़कर समाज को देखने समझने का प्रयास था। उर्दू, पंजाबी, बंगाली, तेलुगू और मलयालम भाषाओं में आन्दोलन विशेष रूप से प्रखर रहा लेकिन इसका प्रभाव समूचे भारत में महसूस किया गया। इसने कमोबेश हर लेखक को सामाजिक यथार्थ के साथ अपने रिश्ते की पुनःपरीक्षा के लिये मजबूर किया, फिर भले ही वह प्रगतिशील लेखक—संघ का सदस्य रहा हो या नहीं।

कुछ भाषाओं में मानव-अस्तित्व के दोनों आयाम दो खानों में बँट गए और मार्क्स और फ्रायड के विचार साहित्य के परस्पर विपरीत ध्रुवों का वैचारिक आधार बने। सामाजिक संवेदना को प्रगतिवादी विचारधारा के साथ जोड़कर 'आधुनिक' विशेषण को अर्थसंकोच के द्वारा वैयक्तिक का पर्याय बना दिया गया। इस स्थिति ने साहित्य में आधुनिक-प्रगतिशील-तनाव और विरोध को जन्म दिया। इस तनाव और विरोध ने वैयक्तिक संवेदना और सामाजिक संवेदना, शहरी संवेदना और ग्राम संवेदना, भाववाद और यथार्थवाद जैसे विलोम द्वैतों में कहानी को बांट दिया।

उसके बाद की कहानी, संवेदना की दृष्टि वह चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक, यथार्थ की अधिक परतदार और जटिल संवेदना की वाहक बनी। वैयक्तिक संवेदना की कहानियों में मनुष्य के आचरण में अवचेतन की भूमिका के कारण आने वाले उलझाव, पारिवारिक भूमिकाओं के विषय में परम्परागत मिथकों और कसौटियों के साथ असामान्यजन्य, रूढ़ियों के समक्ष घुटने टेकने से इंकार, प्रेम और विद्रोह की पर्यायवाचिता, यौन और नैतिकता के प्रश्न उठाये गये। सामाजिक संवेदना की कहानियों में व्यवस्था के विकारों, भ्रष्टाचारों, उत्पादन-सम्बन्धों के असन्तुलन, अन्याय और शोषण चित्रित हुए हैं। आज का आलोचक पीछे मुड़ कर देखते हुए समझ सकता है कि वैयक्तिक और सामाजिक संवेदनाएँ एक दूसरे का प्रतिपक्ष नहीं हैं। व्यक्तिगत अहं का एक सामाजिक आयाम है तथा 'सामाजिक' मूर्तन की व्यक्तिगत साकारता। साहित्य का काम व्यक्तिगत साकारता के बिना चल ही नहीं सकता क्योंकि वह भावात्मक तादात्म्य के जरिये काम करता है और तादात्म्य केवल ठोस मूर्त आधार के साथ ही संभव है। यूरोपियन मार्क्सवाद मार्क्स के पुनः पाठ द्वारा इन नतीजों पर पहुँचा है कि मनुष्य की समस्त संवेदना सामाजिक ही है, यहाँ तक कि उसकी समाज-निरपेक्षता या समाज-द्रोह भी सामाजिकता का ही एक स्तर और प्रकार है। तथापि ऐतिहासिक तथ्य यही है कि तब वह संवेदनागत विभाजन हुआ। यथार्थ के यथातथ्य को वास्तविकता की एकमात्र कसौटी मानने को निष्ठुर और निर्मम आग्रह और अनुभूति की प्रामाणिकता से उसे जाँचने की ज़िद दोनों तरह की संवेदनाओं में समान रूप से दिखाई देती है। किसी भी प्रकार के प्रतिष्ठित और स्थापित मूल्यबोध को इस कसौटी पर जाँचती हुई कहानियों में अधिकांशतः व्यक्ति और व्यवस्था दोनों के ही चरित्र और मूल्य मात्र पाखण्ड की तरह चित्रित दिखाई देते हैं।

## 16.5 गाँव और शहर—नगरकेन्द्रिकता

दूसरे-तीसरे दशक तक की कहानियों में 'भारत-माता ग्रामवासिनी' को प्रमाणित करते हुए कथा साहित्य मुख्यतः ग्राम केन्द्रित था। गुजराती में पन्नालाल पटेल, झबेरचंद मेघाणी, चुन्नी लाल माड़िया, बंगला में ताराशंकर बंदोपाध्याय, नारायण गांगुली, शैलजानन्द, मराठी में र.वा.दिघे, पंजाबी में देवेन्द्र सत्यार्थी, तमिल में के. राजनारायनन आँचलिक जीवन के कुशल चितरे हैं। आँचलिकता का निर्माण स्थानीय तत्वों से होता है और वह विशिष्टता और अनेकता को परिपोषित करता है। आज़ादी के बाद भारत के विकास और आधुनिकरण की परियोजना का बल औद्योगिकरण और शहरीकरण पर आ रहा। साहित्य में भी आँचलिकता और विशिष्टता का निरसन हुआ और एक नामहीन समरूपता ने उसकी जगह ले ली। शहर-गाँव के बीच में यह दूरी जो अब तक उन्हें दो भिन्न आर्थिक सांस्कृतिक क्षेत्र बनाती थी अब उपन्यासों में एक वृहत्तर विमर्श में समायोजित हुई और कहानियों में विस्थापन और प्रवास की नयी कथावस्तुओं की सूत्रधार बनी। शहर के चेहरे अनेक हैं, वहाँ आदमी के लिये नयी उम्मीद का वायदा है ज्ञान, समृद्धि और स्वतंत्रता है, लेकिन दूसरी ओर वह आक्रामक और भ्रष्टकारी भी है।

शहरीकरण का अर्थ परम्परागत मानवीय मूल्यों से उच्छिन्न मध्यवर्ग का विकास था। शहर-गाँव का विभाजन अर्थव्यवस्था और सांस्कृतिक सामाजिक संरचना के लिये भले ही किसी संघातपूर्ण सम्बन्ध का नहीं, किन्तु तनाव का जनक तो अवश्य था। गाँव और शहर के बीच कस्बों (और कस्बाई मानसिकता) के विकास में भी रेल-परिवहन और यातायात के विकास और औद्योगिकरण की भूमिका मौजूद है। ब्रिटिश-निर्मित बन्दरगाहों-कोलकाता, मुंबई और मद्रास-अर्थात् बंगाली, मराठी और तमिल भाषाओं में शहरीकरण का महानगरीय आयाम सबल है और जीवन पर उसके दूरगामी प्रभाव को चित्रित करने वाली अनेक कहानियाँ इन भाषाओं में लिखीं गयीं।

नयी भाषिक व्यंजनाओं के स्रोत की तरह प्रौद्योगिक और वैज्ञानिक सभ्यता का लाभ लेने में लम्बा समय लगा। भारतीय साहित्य में जिस प्रकार सदियों के दौरान नौका या नदी पार एक काव्यात्मक और आध्यात्मिक अर्थ अख्तियार कर चुके थे, उस तरह का अर्थ धीरे-धीरे रेलगाड़ी और रेलवे स्टेशन में निहित/निवेशित होने लगा। बोध के ऐसे कायाकल्प के द्वारा भारतीय साहित्य का आधुनिकता ने स्वयं को आभासित किया, नतीजा कभी प्रभावक्षम था तो कभी-कभी हास्यास्पद भी लेकिन प्रक्रिया हमेशा तकलीफ़देह थी। मौनी द्वारा लिखित और 'लॉस ऑफ़ आइडेन्टिटी' के नाम से अंग्रेजी में अनूदित तमिल कहानी से उद्धृत और हिन्दी में अनूदित निम्न अनुच्छेद ग्राम्य और आध्यात्मिक बोध से मण्डित भारतीय चेतना में नयी शहारी और तकनीकी सभ्यता के जगह बनाने की प्रक्रिया का मुखर साक्ष्य है- 'रेलवे स्टेशन आमतौर से अकेलेपन और असहायता का अहसास कराते हैं, खाली वक्त में भी और भीड़ के वक्त में भी लेकिन एक बड़ा रेलवे टर्मिनल यात्रियों के लिये शुरुआत का और वापसी का बिन्दु होता है। यहाँ से रेलवे हर दिशा को प्रस्थान करती है और फिर यहीं वापस लौट आती है; लोग यहाँ से हर जगह के लिये निकलते हैं और लोग हर जगह से यहाँ आते हैं, नयी जिन्दगी, नये रिश्ते शुरू करने के लिए। इस तरह की जगहों में लोग अपने मूल स्वभाव से, अपनी आत्मा से कट जाते हैं और यहाँ वह आत्मा, अन्य जीवों में जा बसती है। एक शुरुआत और अन्त करने वाली जगह, भीड़ों की जगह, शोर और दबाव की जगह, लेकिन स्वयं को एक उच्च, निष्कम्प और रहस्यमय मन्दिर।'

महानगरीय जीवन की अतिशय तीव्र गति, सम्बन्धहीनता, अपरिचय, ऊब और थकान के प्रभाव से संवेदना का अमानवीकरण होता है। वह आदमी को आत्महीन बनाता है। शहर का यह आक्रामक और अनिष्टकारी पक्ष है। गंगाधर गाडगिल की मराठी कहानी बिना चेहरे की शाम ('बिन चेर्याची सन्ध्याकाल) में मुम्बई शहर में लोगों के जिन्दगी पर उसके अमानवीय-कारक प्रभाव का सशक्त चित्र खींचा गया है-

"सड़क पर चलते हुए एक आदमी मिला जिसे मैं जानता था। वह मुस्कुराया, मैं भी। उसके होंठ हिले। मुझे कुछ नहीं सुनाई दिया। मेरे भी होंठ हिले। लेकिन मैंने भी कुछ नहीं सुना। उसके होंठ फिर हिले। मुझे फिर कुछ नहीं सुनाई दिया। हमारे शब्द गुम हो गये थे, शब्द के भीड़ भरे संसार से बाहर धकेल दिये गये थे। लोगों को एक दूसरे से जो जो कहना था शायद यह उसके आखिरी निर्वासन की शुरुआत थी। हम दोनों बिना आवाज़ हँसे और अपने अपने रास्ते चले गये।... शान्ति की इस बहरा कर देने वाली मांग को मेरे कानों की हद के बाहर जाने में काफ़ी समय लग गया। मेरे स्तब्ध, बलात्कृत कानों को सुनने की योग्यता धीरे-धीरे वापस लौटी। मेरी आँखों को दुबारा चीज़ें दिखाई देने लगी। मैं अपने पास से गुजरती अनन्त मनुष्य-धारा को एक कनवेयट बेल्ट पर रखे उत्पादों की तरह देखने लगा। सब इतने एक जैसे लगते हैं। एक हास्यपूर्ण सा अहसास

हुआ कि सब के सब पास के नुक्कड़ के किसी विराटकाय टकसाल में ढलकर निकलते एक जैसे सिक्के हैं। “शान्ति: शान्ति: शान्ति: लाउडस्पीकर अपने सदैव खुले विशालकाय मुखों से भौंक रहे थे। गति का उद्गण और अशिष्ट शोर, साथी लोगों के प्रति पूर्ण उदासीनता और एक दूसरे के साथ अर्थहीन सम्पन्न-अमानवीकरण की बढ़ती हुई ताकत वाले औद्योगिक-शहरी जीवन और महानगर का यह चित्र भारतीय जीवन में ग्राम केन्द्रिकता को रेखांकित करने वाले और उसके बाद वाले चरण में गाँव और शहर की संस्कृतियाँ और व्यवस्था को एक ही संरचना में समायोजित करने के इच्छुक रचनात्मक सरोकारों से भिन्न, शहरीकरण, औद्योगिक विकास-विस्थापन और प्रवास का अगला चरण और चुनी गयी विकासनीतियों की अन्तिम परिणति और नियति का पूर्वभास है।

इन जीवन स्थितियों में अकेले, निराश और संतुष्ट जीवन के कथानक लेखक के व्यक्तिवाद का प्रमाण उतना नहीं, जितना कि इस नये नागरिक वास्तव और यथार्थ का प्रामाणिक चित्रण है। आत्महानि और अस्मिता के क्षरण की यह अनुभूति गुजराती के जयंती दलाल की कहानी ‘जीवन जाग्युं’ में इस हद तक पहुँचती है कि “सुखी होने का एक ही उपाय है और वह है मौत, वही सबसे बड़ा सुख है।”

गुजराती के जयंती दलाल और जयन्त खत्री, बंगाली में मती नन्दी और सुनील गंगोपाध्याय, हिन्दी में निर्मल वर्मा, कन्नड़ में नव्योदय समूह के लेखक, उड़िया में रबी पटनायक, शान्तनु कुमार, आचार्य इस विषयवस्तु के सिद्ध और स्थापित लेखक हैं। इस कथावस्तु को रचनात्मक सृजन के लिये ठोस वस्तुगत यथार्थ के चित्रण की वर्णनात्मक शैली से भिन्न युक्तियों की आवश्यकता है क्योंकि उसका अस्तित्व ही इसके द्वारा ठोस और मूर्त बनता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कहानियों में चेतना-प्रवाह पद्धति, आन्तरिक संलाप, एकालाप, प्रतीक, बिम्ब आदि युक्तियाँ प्रयोग में लाई गयी और कथा का कलाकोश समृद्ध बना।

## 16.6 पारिवारिक सम्बन्धों के बदले हुए समीकरण

पारिवारिक सामाजिक सम्बन्ध कहानी की उपजीव्य सामग्री है। ग्राम केन्द्रित कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था द्वारा पोषित संयुक्त परिवार प्रथा के टूटने तथा उनकी जगह पर इकाई-परिवारों के विकसित होने का दस्तावेज कथा साहित्य में संचित देखा जा सकता है क्योंकि जीवन तथा समाज भी सम्बन्धों में ही अभिव्यक्ति पाकर जीवित और साकार होते हैं। कथावस्तु तथा प्रमुख घटनास्थल की तरह कहानी के केन्द्र में नगर का मध्यवर्गीय परिवार क्रमशः स्थापित हुआ। संयुक्त परिवारप्रणाली को बचाए रखने की कशमकश प्रेमचंद और उनके अन्य भाषाभाषी समकालीनों में अन्त तक दिखायी देती है क्योंकि उनके लिये शायद वही पारिवारिकता का एकमात्र मॉडल रहा होगा और उसके ध्वंस को वे परिवार का और प्रकारान्तर से समाज का ध्वंस पा रहे होंगे। आज़ादी के बाद की पीढ़ी निकटतर-पाश्चात्य-सम्पन्न, नयी शिक्षा पद्धति और टेक्नॉलॉजी केन्द्रित व्यवसायीकरण और शहरीकरण के दौरान की कहीं चौथी कहीं पाँचवी पीढ़ी थी। विभिन्न भाषाओं में परितर्वन का यह अनुक्रम आगे पीछे रहा हो सकता है। उसकी मानसिक बनावट में अपनी परम्परा और समाज में एक उच्छिन्नता आ चुकी थी। संयुक्त परिवार में उसकी घुटन और विद्रोह के कथानक आरंभ हुए। संयुक्त परिवार के मुखिया बुजुर्ग के अप्रसांगिक, अपदस्थ और उपेक्षित हो जाने के चित्र सभी भाषाओं के साहित्यों में मिलते हैं। परिवार के भीतर वर्चस्व का निर्णायक तत्व अब आर्थिक हो चुका है। उसके परिणामस्वरूप नये तनाव उत्पन्न होते हैं। संयुक्त परिवार के टूटने के बाद इकाई परिवार के भीतर भी सम्बन्धों के

बदले हुए समीकरण कहानी में दिखाई देते हैं। बेरोज़गार बेटे के स्थान पर कमाऊ बेटे का वर्चस्व अधिक है जैसे हिन्दी में उषा प्रियम्बदा की 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल' नामक कहानी। लेकिन अविवाहित कमाऊ बेटे के आर्थिक और भावात्मक शोषण के कथानक भी भरपूर हैं, जैसे सिन्धी में हरिकान्त की 'ज़ेब्रा क्रॉसिंग पर' नामक कहानी। मायके की जायदाद में बेटे के कानूनन अधिकार से भाई बहन के सम्बन्धों में खटास और सम्बन्ध विच्छेद की कहानियों की भी कमी नहीं। जैसे सिन्धी में ही मोतीलाल जोतवाणी की 'अधिकार' नामक कहानी।

शिक्षित, अस्मितासंपन्न, नौकरीपेशा स्त्री; दाम्पत्य पर उसकी आर्थिक आत्म-निर्भरता, स्वतंत्र इच्छाशक्ति और अपेक्षाओं का दबाव; असन्तुष्ट साहचर्य, अतृप्त अनुकूलन, विवाहेतर मैत्रियों का तनाव विवाह संस्था को उसकी सामर्थ्य की हदों तक तानता और तोड़ता चला जाता है। एक नयी स्त्री की सामर्थ्य और अपेक्षाओं के समक्ष प्रायः अपर्याप्त पुरुष या किसी तीसरे की उपस्थिति या परिवार के भीतर ही सफलता की स्पर्धा और प्रतियोगिता के कथानक प्रसन्न परिवार और सुखी दाम्पत्य की तुलना में तनावग्रस्त सम्बन्धों और टूटते परिवारों की कहीं अधिक संख्याबहुल कहानियाँ प्रस्तुत करते हैं। दाम्पत्य के अतिरिक्त भी अन्य समस्याओं के तनाव को अभिव्यक्त करने के लिये दाम्पत्य व अन्य पारिवारिक सम्बन्धों के कथानकों को माध्यम बनाया गया है। ऐसे उदाहरणों में कथानक और कथ्य अथवा अन्तर्वस्तु एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। नगर का अमानवीय दबाव, विस्थापन के परिणामस्वरूप पारिवारिक दूरियाँ, बेरोज़गारी, जगह की कमी, सम्बन्ध—समीकरण में आर्थिक वर्चस्व की प्रधानता आदि अनेक समस्याएँ समस्त भारतीय साहित्य में पारिवारिक कथानकों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं और उनमें ऐसी समरूपता देखी जा सकती है कि लगता है कि किसी भी भाषा की कहानी किसी भी अन्य भाषा की अपनी कहानी हो सकती है।

शिशिर कुमार दास ने साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर' में संकेत दिया है कि स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के बदलते हुए बोध और स्वाधीनता की राजनीतिक तथा वैयक्तिक आकांक्षा के साथ आधुनिक भारतीय साहित्य के सारे आन्दोलन गहराई से जुड़े हुए हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध और व्यक्तिगत स्वाधीनता के कथानकों में यौन और नैतिकता महत्वपूर्ण मुद्दे बन गये हैं।

भारतीय मानसिकता में नैतिकता का केन्द्र बिन्दु झूठ, चोरी, भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, दोहरा चरित्र आदि अनेक आयामों को यदि दरकिनार नहीं तो भी महत्वहीन सा करते हुए यौन आचरण पर, स्त्री के यौन आचरण पर विशेषतः, टिका और सिमटा हुआ है।

भारतीय साहित्य में यौन-चित्रण कोई नयी शुरुआत नहीं। परम्परागत साहित्य में शृंगार न केवल एक प्रबल तत्व बल्कि रसराज माना जाता रहा है। लेकिन 19वीं शती से शुरू करके 20वीं शती के आरंभिक दशकों में स्वाधीनता संग्राम के उग्र दौर में यौन-चित्रण भारतीय साहित्य में एक वर्जना बन गया क्योंकि शृंगारप्रवण चेतना और रीतिबद्ध मानसिकता को संघर्ष की तैयारी में बाधा पाते हुए नैतिकता और आदर्श के शुद्धतावादी आग्रहों का प्रबल हो उठना स्वाभाविक था। लेकिन साहित्य में जीवन के चित्रण को अधूरा और एकांगी कर देने वाले इस निषेध से रचनाकार का असन्तोष भी उतना ही स्वाभाविक था। इसलिये इन वर्जनाओं को उतनी ही प्रबल चुनौती भी दी गयी।

आधुनिक कथा-साहित्य का मुक्त यौन चित्रण परम्परागत रसराज शृंगार की अभिव्यक्ति से भिन्न वस्तु है। शृंगार का उद्देश्य स्थायी भाव रति का भावात्मक प्रभाव उत्पन्न करना है, यौन के मुक्त चित्रण का उद्देश्य व्यक्ति और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों की छानबीन है। वह गहनतम रागात्मक सम्बन्ध भी हो सकता है या फिर चरम विरक्ति और उदासीनता की प्रताड़ना भी। देह-व्यवसाय में स्त्री के शोषण जैसी कथावस्तु में व्यक्ति और समाज के बीच सम्बन्धों के नैतिक आधारों की छानबीन के उद्देश्य से भी कहानी में ऐसे चित्रण को जगह दी जा सकती है। इसका सम्बन्ध परम्परागत काव्य चेतना से नहीं, पश्चिमी साहित्य के साथ सम्पर्क से था। तीस के दशक में भारतीय लेखक का फ्रायड की 'इण्टरप्रिटेसन ऑफ़ ड्रीम्स (1913) और 'साइकोपैथोलोजी ऑफ़ एवरीडे लाइफ़' (1914) व हैवलॉक एलिस की 'स्टडीज इन द साइकोलाजी ऑफ़ सेक्स (1933) के साथ परिचय हुआ और इसके बाद मधुसूदन वर्मा नैतिक सीमाओं को चुनौती देने वाले लेखकों ने अपना दिशा निर्देश पश्चिमी लेखकों से लिया। इस नयी शुरुआत का सम्बन्ध केवल स्थायी भाव रति की अभिव्यक्ति नहीं, सामाजिक वर्जनाओं और निषेधों से उत्पन्न मानसिक ग्रन्थियाँ और कुण्ठाएँ, रूढ़ सामाजिक परम्परा की प्रभुता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के बीच एक तनाव उत्पन्न कर देने वाले बदलते अनुभवों और देह-व्यवसाय की वस्तु से सम्बन्धित शोषण के सामाजिक आयाम से था।

आज़ादी के पहले ही टैगोर और शरत समेत अनेक बड़े लेखक स्त्री-पुरुष सम्बन्धों तथा मानव जीवन में प्रेम और यौन की शक्ति के चित्रण के लिये निन्दा के पात्र बन चुके थे। उनके आलोचकों ने नैतिकता के मानदण्डों की दुहाई देते हुए लेखकों को उनकी रक्षा के लिये उत्तरदायी ठहराया और उनके कर्तव्य की याद दिलाई। कट्टर किस्म के माता-पिता ने बच्चों पर बंगाल में टैगोर और शरच्चंद्र तथा आन्ध्रप्रदेश में चालम की रचनाएँ न पढ़ने की पाबन्दी लगा दी थी क्योंकि युवा पीढ़ी पर इनका प्रभाव अनर्थकारी माना गया। चालम पर अश्लीलता का आरोप लगाया गया। मुक्त प्रेम का विवाह, विवाह संस्था पर उठाए गये सवाल बेहद खतरनाक पाए गये। विधवा के लिये शरमचन्द्र की सहानुभूति, प्रेम का उसका अधिकार भी हिन्दू समाज के नैतिक आधार के लिये खतरा माने गये।

पृष्ठभूमि से आगत इस बीच के विकास में आज़ादी के बाद कई भाषाओं के साहित्य में यौन चित्रण महत्वपूर्ण बना, लेकिन इसलिये नहीं कि सामाजिक सम्बन्धों में कोई मालिक बदलाव था बल्कि इसलिए कि सृजनात्मक चेतना में अन्तर आ गया था। गुजराती साहित्य में लेखकों की अगली पीढ़ी आ पहुँचने तक (1955) साहित्य में यौन का चित्रण लगभग निषिद्ध था। इसके पहले सुन्दरम ने इक्का दुक्का प्रयास में एकाध कहानी में यौन-चित्रण द्वारा इस विषय के सामने रखा था तो आपत्तियाँ उठायी गयी थीं और आलोचना में शोर मचा था लेकिन सुरेश जोशी द्वारा आधुनिकतावादी आन्दोलन शुरू करने के बाद (1955) कवियों-कथाकारों का प्रमुख सरोकार यौन बन गया।

उर्दू में सज्जाद ज़हीर द्वारा संकलित 'अंगारे' ने एक विकट विवाद खड़ा कर दिया था। 'अंगारे' में संकलित लेखकों में से मण्टो और इस्मत चुगताई आगे चलकर बड़े लेखक बने। मलयालम में बशीर, तकषि तथा केशव देव ने, बंगाली में अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, बुद्धदेव बसु, प्रबोध सान्याल ने यौन के मुक्त-चित्रण के माध्यम से अपने कथ्य का संप्रेषण किया और अश्लीलता का आरोप सहने के बावजूद बड़े लेखकों की तरह स्थापित और प्रशंसित हुए।

लेखकों और सीमित संख्या में पाठकों के लिये भले ही इस विषय के पीछे स्वाधीनता के

लिये विद्रोह था। क्रान्ति, रूढ़ नैतिक सीमाओं को चुनौती, दैहिक अनुभव के अर्थ को दायरों का विस्तार, दैहिक शोषण के खिलाफ आवाज़, नैतिक प्रपंच के झूठ और दोहरे आचरण पर प्रहार तथा सच्चाई और ईमानदारी के आधार की तलाश जैसे प्रयोजन मौजूद हों, लेकिन भारतीय समाज नैतिकता के आधार आज भी बड़े पैमाने पर स्त्री की दैहिक शुचिता पर टिका है, दोमुँही मानसिकता का शिकार है, नैतिकता को झूठ के प्रपंच में बदल देता है। इस विषय के माध्यम से दी गयी चुनौती प्रायः अश्लीलता की अभियुक्ति बनती है और अपने उद्देश्य को स्वयं ही पराजित कर देती है।

## 16.7 सामाजिक सरोकार की कहानियाँ

व्यक्तिगत सम्बन्धों के दायरों और पारिवारिक संरचना में बदलाव का अर्थ समाज में गहनतर स्तर पर बदलाव ही है लेकिन समस्त मानव संवेदना को सामाजिक यथार्थ मानते हुए भी विषयवस्तु के रूप में सामाजिक सरोकार को ठोस, परिभाषित अर्थ और वैयक्तिक यथार्थ पर वरीयता देने वाली कहानियों को वर्गीकृत किया जा सकता है क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह विभाजन और वर्गीकरण हुआ है।

सभी भाषाओं में अधिकारहीन, विपन्न, वंचित किसान—मजदूर वर्ग को केन्द्र में रखने वाली अनगिनत ऐसी रचनाएँ हुईं जिनमें ग्रामीण भारत को शोषण के दबाव से कराहती और गरीबी से संघर्ष करती बस्ती के रूप में चित्रित किया गया है। यथार्थ में उभरते हुए बोध और परिवर्तन की ऐतिहासिक प्रक्रिया की समझ ने गाँव को प्रकृति की गोद में बसे भोले, निरीह आदर्श मानव—संसार के मिथ से मुक्त करने में प्रतिरोधी प्रवृत्ति का विकास किया। किसानों की गरीबी और शोषण के चित्र खींचे गये। अशिक्षा और अज्ञानजन्य नासमझी और अन्धविश्वास के परिणामस्वरूप शोषण और असहायता की ओर संकेत किया गया। गाँव से शहर में पलायन के लिये मजबूर किसानों—मजदूरों के विस्थापन के कथानक उठाए गये। उत्पादन—प्रक्रिया में मशीनीकरण की वजह से बुनकर तथा अन्य शिल्पी समुदायों के आसन्न विनाश के सकट और संकटग्रस्त जीवन की कहानियाँ लिखी गयीं। महाजन से मुक्ति मिली लेकिन बैंकिंग प्रणाली और ऋण की व्यवस्था ने अपना और भी विकट रूप से भयंकर अमानवीय चेहरा दिखाया। भूमिहीन किसान और रोज़गारहीन असंगठित मजदूर का शोषण विकट से विकटतम हुआ।

1990 के बाद के आर्थिक उदारीकरण, वैश्वीकरण और निजीकरण ने विकास के नाम पर आबादी के बहुत बड़े अंश को विकास के दायरे से बाहर कर दिया है। बड़े पैमानों पर किसानों की आत्महत्या आज का सामाजिक—वैयक्तिक यथार्थ है। इस वर्ग की कहानी में भी स्वाधीनता के बाद व्यवस्था के विश्लेषण, परीक्षण में एक नगरकेन्द्रिकता आई। वंचित वर्गों के उन्नयन के लिये नयी शासकीय नीतियाँ बनती और भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ती रही। भ्रष्ट अफसरों के कन्धे पर चढ़ी लालफीताशाही, व्यापारियों का वर्चस्व, नेताओं की व्यापारियों, उद्योगपतियों के साथ साठ—गाँठ, उनकी नीतियों और भ्रष्टाचार की चक्की में पिसता आम आदमी इनका विषय है। हर वह नीति जिसका निर्माण विपन्न वर्ग के हितों को ध्यान में रखते हुए किया गया, उनके अहित का कारण बनी क्योंकि वंचित वर्गों के उन्नयन के लिये नयी शासकीय नीतियाँ बनती और भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ती रही। भ्रष्ट अफसरों के कन्धे पर चढ़ी लालफीताशाही, व्यापारियों के वर्चस्व, नेताओं की व्यापारियों, उद्योगपतियों के साथ साठ—गाँठ, उनकी नीतियों और भ्रष्टाचार की चक्की में पिसता आम आदमी इनका विषय है।

इनमें से कोई भी तथ्य स्वाधीनता—उपरान्त उत्पन्न तथ्य नहीं है लेकिन मार्क्सवाद से पाए गये विश्लेषण के औज़ारों ने रचनाकार की चेतना में एक नयी अर्न्तदृष्टि के उल्लास और

पीड़ित-शोषण के साथ तादात्म्य के नये परिप्रेक्ष्य की पीड़ा से भर दिया। सूत्रपात स्वाधीनता के पहले ही हो चुका था, विकास और परिपाक स्वाधीनता के बाद हुआ।

स्वाधीनता के बाद भारतीय  
कहानी का विकास

## 16.8 कुछ विशिष्ट कहानीकार : एक संक्षिप्त सूची

निम्नलिखित सूचनाएँ भारतीय भाषा परिषद द्वारा प्रस्तुत संकलन (लोकभारती प्रकाशन) 'भारतीय श्रेष्ठ कहानियाँ' पर आधारित हैं। संकलन के दो खण्डों में हैं और इसमें चौदह भारतीय भाषाओं की तकरीबन दस-दस कहानियाँ संकलित हैं। भारतीय साहित्य के विषय में इतर भाषाओं की सूचना और जानकारी अनुवाद में उपलब्ध रचनाओं पर निर्भर है और रचना का चुनाव अनुवादक की रुचि, सुविधा, पहुँच जैसी सीमाओं के द्वारा प्रतिबन्धित होता है। प्रतिलेखक एक कहानी के हिसाब से कुल दस कहानियों के आधार पर किसी भाषा के कहानीकारों की पक्षधरता और संवेदना-सरोकारगत विभाजन के विषय में अनुमोदन और निष्कर्ष न तो संभव है और न न्यायोचित। कहानी के साथ संकलित लेखक परिचय से प्रतीत होता है कि जैसा आत्यंतिक विभाजन हिन्दी में हुआ वैसा अन्य भाषाओं में नहीं और सभी बड़े और महत्वपूर्ण लेखकों ने मानव जीवन की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों तरह की संवेदनाओं की कहानियाँ लिखीं। उदाहरण के लिये बंगाली में मानिक बन्दोपाध्याय और समरेश बसु, कन्नड़ के अनन्तमूर्ति और उड़िया के मनोज दास सामाजिक यथार्थ के मार्क्सवादी रचनाकार भी हैं और मानव मन की वैयक्तिक गहराईयों के चितरे भी। संवेदनविषयक ऐसी सूचना हर लेखक के विषय में प्राप्त नहीं है इसलिये ऊपर इस सूची को संक्षिप्त और अपर्याप्त कहा गया है।

असमिया-सैय्यद अब्दुल मलिक, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, भवेन्द्र शाङ्किया, सौरभ कुमार चालिहा,

उड़िया-सुरेश मोहन्ती, मनोज दास, रजनीकान्त, कृष्ण प्रसाद मिश्र, शान्तनु कुमार आचार्य, रवि पटनायक।

कन्नड़-राघवेन्द्र खासनीस, पी.लंकेश, यू.आर.अनन्तमूर्ति, के.सदाशिव, पूर्णचन्द्र तेजस्वी, कालेगौड़ा नागवारा, वीणा शान्तदेश्वर, देवनूर महादेव।

तेलुगू-पुलिकण्टि कृष्णा रेड्डी, पालगुम्मि पद्मराजू, राचकोण्डा विश्वनाथ शास्त्री, केतु विश्वनाथ रेड्डी, बीना देवी, बोमिरेड्डीपल्ली सूर्याराव, बलिवाड़ा कान्ताराय, मधुराकान्तम राजाराव।

पंजाबी-जगजीत, केवल सूद, प्रेम प्रकाश, दिलीप कौर टिवाण, मोहन भण्डारी।

मराठी-अरविन्द गोखले, शान्ताराम, गंगाधर गाडगिल, जी.ए.कुलकर्णी, शंकर पाटिल, बाबूराम बागुल, आनन्द यादव

तमिल-टी.जयकान्तन, इंडा पार्थसारथी, आर.चूडामणि, अम्बे

मलयालम-टी.पद्मनाभम, कोविलन, एम.टी.वासुदेवन नायर, के.टी.मोहम्मद, माधवी कुट्टिट, एम.नारायन पिल्ले, एम.सुकुमारन।

गुजराती-सुरेश जोशी, चन्द्रकान्त बक्षी, रघुवीर चौधरी, राव जी पटेल, अश्विनी देसाई, ईवा डेय, प्रबोध पारीख, सुधीर दलाल।

सिन्धी—पोपटी हीरानन्दाणी, लालपुष्प, विष्णु भाटिया, ईश्वर चन्दर, जयन्त रेलवाणी, मोतीलाल जोतवाणी।

कश्मीरी—वंशी निर्दोष, दीपक कौल, शंकर रैना, हृदय कौल भारती, हरेकृष्ण कौल, रतनालाल शान्त, फ़ारुक मसूदी।

उर्दू—इंतज़ार हुसैन, सुरेन्द्र प्रकाश, गयास अहमद गद्दी, अनीस रफी।

बंगला—ताराशंकर बन्दोपाध्याय, विभूतिभूषण बन्दोपाध्याय, शिवराम चक्रवर्ती, प्रेमचन्द्र मित्रा, मानिक बन्दोपाध्याय, आशापूर्णा देवी, समरेश बसु, महाश्वेता देवी।

## 16.9 सारांश

इस अध्याय में आपने स्वाधीनता के बाद की भारतीय कहानी का परिचय पाया और देखा कि किस तरह आजादी के पहले तक 'अनेकता में बीजरूप एकता' का भाव साहित्य में भी अभिव्यक्त होता रहा है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से उपरान्त घटित एक महत्वपूर्ण घटना भाषा के आधार पर प्रदेशों का पुर्नगठन है। स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान लगभग एक सदी से भाषा का जो प्रेम देशभक्ति का एक घटक था, वह आजादी के बाद ताकत की राजनीति का औजार व राष्ट्र की धारणा के लिए खतरा बन गया। 15 अगस्त 1947 को आजादी की खुशी के साथ-साथ विभाजन का दर्द भी मिला जिसका परिणाम था—छिना हुआ घर, छूटे हुए परिवार और रिश्ते, टूटे हुए लोग—जिसकी मार्मिक अभिव्यक्ति साहित्य में देखने को मिलती है। बाद की कहानी—संवेदना की दृष्टि वह चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक, यथार्थ की अधिक परतदार और जटिल संवेदना की वाहक बनी और नगर केन्द्रिकता उसकी प्रमुख प्रवृत्ति बन कर उभरी। पारिवारिक और यौन-सम्बन्धों के बदले हुए प्रतिमान कतिपय कहानीकारों की रचनाओं में प्रमुखता से व्यक्त हुए, साथ ही सामाजिक सरोकार से युक्त रचनाएँ भी लिखी गई। इस प्रकार स्वाधीनता के बाद बदला हुआ परिदृश्य कहानी-साहित्य में प्रमुखता से व्यक्त हुआ है।

### अभ्यास

1. 1947 ई. के बाद सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तनों ने कहानी को कौन-सी दिशा दी, स्पष्ट कीजिए।
2. विभाजन की घटना से प्रेरित कहानियों में कौन-सी साम्यताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, स्पष्ट कीजिए।
3. 'नगर केन्द्रिकता' आधुनिक कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति है, निरूपण कीजिए।
4. सामाजिक सरोकार की कहानियों पर टिप्पणी लिखिए।

### संदर्भ-पुस्तकें :

1. जगदीश चतुर्वेदी, सं., भूमिका, *भारतीय कहानी*, दिल्ली : केंद्रीय हिंदी निदेशालय, 1976।
2. रामसिंह तोमर, अनु., *रवींद्रनाथ की कहानियाँ : भाग 1*, नई दिल्ली : साहित्य, पुनर्मुद्रण 2012
3. प्रेमचंद, *मानसरोवर भाग-1*, इलाहाबाद : सरस्वती।
4. चंद्रभूषण तिवारी, *आलोचना की धार*, पंचकूला : आधार, 1998